THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180241

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H88|B46H Accession No. G.H.1348

Author बोनीपुरी, रामवृक्ष|

Title हवा पर |1949

This book should be returned on or before the date last marked below.

किताब महल निबन्धमाला—८

व३२'१
निर्बंध

हवा पर

रामवृक्ष बेनीपुरी

किताब महल इलाहाबाद बम्बई

प्रथम संस्करण, १९५९

प्रकाशक—किताब महल, जीरो रोड, इलाहाबाद।

मुद्रक—अनन्तराम श्रीवास्तव, त्रिवेणी प्रेस, दारागंज, प्रयाग।

विषय-सूची

विषय			पृष्ठ
मैं कैसे लिखता हूँ	...	...	१
बिहार के लोक-गीत	...	...	१०
जेल के वे दिन	...	...	१७
शकुन्तला	...	...	२८
मैथिली साहित्य	...	...	६२

मैं कैसे लिखता हूँ ?

कुर्सी-टेबल पर लिखना मुझे पसंद नहीं। चौकी हो, उस पर गद्दा हो, साफ चादर हो, तकिया हो जिसे मैं छाती से चिपकाये रहूँ, इस तरह अधलेटे-अधलेटे लिखना मुझे पसंद है। बँधी कॉपियों में मेरी प्रतिभा जैसे बँध जाती है : पैड हो और वह भी बिना रूल का तो और अच्छा। बंधन में रहना या लकीरों पर चलना मुझे कभी पसंद नहीं आया है। लिखते समय मेरे विचारों और मेरी लेखनी में जैसे होड़-सी लग जाती है—विचार जैसे चेल्हवा मछली—तड़पती, उछलती, चमकती; लेखनी जैसे जाल—छोटे घेरे का, कच्चे सूत का। जाल में आने के पहले ही, माँझी को ललचाकर, जैसे मछली निकल भागना चाहती हो। किन्तु, माँझी उसे छोड़े तो कैसे ? इसलिए बहुत तेज़ लिखता हूँ—व्याकरण तक की सुधि मुझे नहीं रहती है उस समय। पीछे गोद-गाद कर लिया करता हूँ। इस तेज़ रफ़्तारी के कारण जब तक होल्डर रोशनाई से लिखता रहा, बड़ी दिक्कत होती थी। अब शेफर-फाउन्टेनपेन से लिखा करता हूँ—सर-सर, सर-सर। और, लिखते समय सामने सामने सिगरेट का टिन हो और पान के कुछ बीड़े ! मैं कहा करता हूँ, माँ-भारती को धुआँ पसंद है। पहले वह यज्ञाग्नि के धुएँ पर पधारती थीं, अब इस बीसवीं सदी में उन्हें सिगरेट का धुआँ भाने लगा है। आप विश्वास न करें, किन्तु जब सिगरेट का धुआँ गिर्दाब बनाता हुआ ऊपर उठता है, तब मैं देखता हूँ, मेरी वीणापाणि उस पर थिरकती हुई पधार रही हैं। और जब पान के बीड़े मुँह में घुलते हैं, तो मालूम होता है, हृदय की सारी अनुभूतियाँ पिघलकर मेरी लेखनी की राह से कागज पर मूर्तरूप धारण करती जा रही हैं !

अच्छी चीजें या तो मैंने भोर में लिखी हैं, या निस्तब्ध रात्रि में। यों तो रात में मैं देर तक जगता हूँ—मेरा कहना है, जब आधी रात के बाद तारीख बदल जाय, तब सोओ। एक तारीख को सोओ और दूसरी को जगो—दो-दो दिनों का एक साथ सोना; राम राम! किन्तु देर तक जगने के बाद भी जब सोने जाता हूँ, दिमाग़ कुछ देर तक उधेड़बुन में रहता है और कभी-कभी उसी समय बिछावन छोड़कर कुछ लिखने लगता हूँ। डर लगता है, कॉलरिज के 'कुबला खाँ' की तरह, कल होते-होते, कहीं इस चित्र को भूल न जाऊँ या यह अधूरा ही न रह जाय। भोर में देर से उठता हूँ और डटकर 'जल-खई' खाकर लिखने बैठ जाता हूँ और एक-सुर में तीन-चार घंटे तक लिखता जाता हूँ। किन्तु, यह अपने कलाकार बेनीपुरी के बारे में कह रहा हूँ, पत्रकार बेनीपुरी के तो दफ़्तर के होहल्ले में, जब टेबुल के इर्द-गिर्द तरह-तरह के लोग बैठे हैं और कान में मशीन की घर्र-घर्र आ रही है, लिखा करता है। और, ज्योंही कुछ 'चीज़' तैयार हुई, मित्रों के सुनाये बगैर जैसे मेरा पेट फूलने लगता है! निकट जो रहा, उसे ही सुना देता हूँ। कभी-कभी उच्चकोटि की कलाकृति एक ही साँस में किसी भोंदू मित्र को सुनाकर कैसी तृप्ति की साँस ली है मैंने!

मौसम के हिसाब से मुझे बरसात पसंद है। जाड़े में जैसे प्रतिभा सिकुड़ जाती है और गर्मी में फैलकर बिखर-सी जाती है! जब सारा बदन रज़ाई में रहना चाहिए, तो हाथ निकालकर कौन क़लम घिस-घिस करे और जब पसीने से काग़ज़ गीला होता जाय तो उस पर स्याही कौन पोते! बसंत की रंगीनी में मैं सब कुछ भूल जाता हूँ और शरद की रजतिमा मुझमें अजीब मुह्यता ला देती है। बस, मैं अपने फौर्म में रहता हूँ, तो बरसात में। ईशा ने कहा था—'बादल से चले आते हैं अज़मू मेरे आगे!' मैं यों कह सकता हूँ—बादल पे

चेले आते हैं मजमूँ मेरे आगे ! कालिदास का 'मेघदूत' असाढ़ में शुरू हुआ था; मेरी 'अम्बपाली' सावन में और उसकी दो पृष्ठ की भूमिका के लिए तीन सावन की प्रतीक्षा करनी पडी थी मुझे।

जब मैं गति में होता हूँ, तो मेरे हृदय और मस्तिष्क दोनों गति में होते हैं—पल-पल बदलनेवाली दृश्यावली और परिस्थितियाँ जैसे मेरी प्रतिभा को पंख दे देती हैं ! अपनी सभी सुन्दर कलाकृतियों की रूपरेखायें सफ़र में ही तैयार की है मैंने—चाहे जब मैं रेल पर हूँ, या मोटर में, साइकिल पर या बैलगाड़ी पर ! गंगा पार करते समय जब-जब एकाध घंटे के लिए जहाज पर रहा हूँ, किसी-न-किसी सुन्दर चीज की कल्पना मैंने की ही है ! कहा जाता है, बर्नार्डशा अपने नाटक दोतल्ले बस के ऊपर बैठकर क्षिप्त लिपि में लिखा करते हैं। क्षिप्त लिपि मैं नहीं जानता; फिर ऐसे मौक़ों पर इतना भावना-विभोर रहता हूँ कि काग़ज़ क़लम निकालने का जी भी नहीं करता। हाँ, निश्चित स्थान पर पहुँचकर कभी-कभी कुछ नोट कर लिया करता हूँ और फिर निश्चिन्त होने पर उसमें रंग भरता हूँ। किन्तु ज़्यादातर तो उसे अपने मस्तिष्क के किसी कोने में ही डाले रखता हूँ और जब उस पर लेखनी उठाता हूँ, तो आश्चर्य से पाता हूँ, मेरे मस्तिष्क ने मेरे घरोहर को कितना सुरक्षित रखा था। पैदल चलते समय भी मेरे मन में तरह-तरह की बातें उठा करती हैं और यदि मैं बम्बई या कलकत्ता में होता, तो कब न किसी गाड़ी के नीचे कुचल-कर मर गया होता ! मैं जो बड़े शहरों से घबड़ाता हूँ और पटना की गलियाँ मुझे पसंद हैं, तो शायद इसी आत्म-रक्षा की भावना से ही !

पहले किसी खास प्रसंग, घटना या दृश्य से स्फुरण पाकर ही मैं लिखता था; किन्तु अब तो लिखना मेरी आदत में शुमार हो चुका है। कुछ न लिखूँ, तो एक अभाव अनुभव करने लगता हूँ—जैसे

कोई नेता बिना कुछ बोले, बिना कुछ सन्देश दिए या उपदेश दिए—रह नहीं सकता; उसी तरह की मेरी हालत तब हो जाती है, जब मैं कुछ लिखता नहीं। और मेरे मस्तिष्क में भिन्न-भिन्न यात्राओं में संचित किये इतने धरोहर रखे हैं कि मैं सात जन्म लिखा करूँ, तब भी वे शायद खाली न हों। मुझे उन पर तरस आती है जिन बेचारों को लिखने के लिए विषय ढूँढ़ने पड़ते हैं, या मिलते ही नहीं। मेरा रोना तो यह है कि आह, मेरे मस्तिष्क में इतनी चीजें भरी पड़ी हैं—मुझे फुरसत नहीं मिलती कि मैं उन्हें क़लमबन्द करूँ। लगभग ६५ पुस्तकें लिख जाने के बाद भी कम-से-कम पचास छोटे-बड़े स्केच, दो दर्जन कहानियाँ और एकांकी, एक दर्जन नाटक और आधे दर्जन उपन्यास मेरे मस्तिष्क में खाँव-खाँव मचाये रहते हैं।

क्षिप्त वेग से लिखने के कारण शब्दों के चुनने या मुहावरों के बनाने की ओर मैंने कभी ध्यान नहीं दिया। लेकिन, तो भी, अनायास ऐसे शब्द और ऐसे मुहावरे आ जाया करते हैं, जिन्हें देखकर मैं स्वयं आश्चर्य में पड़ जाया करता हूँ। विचारों की भी यही हालत है। मैं हाथ में क़लम लेकर लिखना शुरू कर देता हूँ, और नये-नये विचार नये-नये मुहावरों और शब्दों में सजधज कर, मेरी क़लम की नोक से उतरने लगते हैं! वे विचार मेरे दिमाग़ में कहाँ थे,—वे कहाँ से आकर मस्तिष्क के किस निभृत कोने में जा बैठे थे? या वे उसी टकसाल में ढले हैं—बाहर सोने-चाँदी के ठप्पे-मात्र थे, टकसाल में जाकर गोल-गोल, सुन्दर-सुन्दर, नये बेलबूटों से सजे और नई क़ीमत की छाप लेकर निकल आये हैं! हाँ, लगता है, जैसे उन्हें कभी देखा हो—सपनों की सुन्दरियों की तरह—अवगुंठनवती, कुहेलिकामयी! जैसे वे स्वप्न-सुन्दरियाँ घूँघट हटाकर मेरे सामने आकर आज मुझी पर मुस्करा रही हों! सच कहता हूँ, अपनी रचनाओं ने मुझे कम विस्मित नहीं किया है!

स्केच, नाटक, कहानी या उपन्यास लिखने के समय मन ही मन एक ढाँचा बनाया ज़रूर; लेकिन जब समाप्त किया, वे उन ढाँचों से बहुत दूर पड़ गये थे। उनके पात्र या पात्रियाँ जैसे मुझसे अपनी बात लिखवा रहे हों! मानो वे मुझसे कहते हों, जब तक मैं तुम्हारे मस्तिष्क के गर्भ में पलता रहा, तुम्हारा रहा; अब जब बाहर आया, तो मुझे अपना विकास आप करने दो। मेरे एक मित्र ने एक बार कहा था, मैं अपने बच्चों के लिए उनका Your most obedient father हूँ। अपनी रचनाओं के प्रति भी मैं वैसा ही आज्ञाकारी पिता हूँ। मेरी बुधिया, मेरा बलदेव सिंह, मेरी अम्बपाली, मेरी संघमित्रा, वही नहीं हैं जिनकी कल्पनामूर्तियाँ मैंने पहले तैयार कर रखी थीं। नहीं, ये मेरी मानसिक संतानें आप बढ़ी हैं, आप बनी हैं। मैंने उनकी वृद्धि में भी मदद भर कर दी है!

'अम्बपाली' में जब अरुणध्वज की मृत्यु के बाद मधूलिका जाने लगी और बोली—'मैं चली अम्बे; मैंने इसकी ज़िन्दगी ढोई, अब तू लाश ढो'—'हाँ, जो ज़िन्दगी नहीं ढोता उसे लाश ढोनी पड़ती है अम्बे!' तो मैं सच कहता हूँ, यह लिख जाने के बाद मैं स्वयं विस्मय-विमुग्ध बन गया था! मधूलिका, यह भोली लड़की, मैंने तो इसका निर्माण किया था 'अम्बपाली' के चरित में रंग भरने के लिए। अरे, यहाँ आकर तो यह खुद एक चरित बन गई और तब से सारा नाटक उसके इस कथन पर ही चक्कर काटता रहा! और जब अम्बपाली ने कहा—'मधु, आह, तू जान पाती कि मैंने ज़िन्दगी भी लाश ही की तरह ढोई है!' तब तो मुझे ऐसा लगा कि कलाकार एक यंत्रमात्र होता है—उसकी कला कृतियाँ उसे जैसा चाहें नचा सकती हैं। नट चला था कठपुतलियाँ नचाने; कठपुतलियों ने उसे ही नचा छोड़ा।

यह बात मैंने लेखों के बारे में भी पाई है। मैंने जो अच्छे लेख लिखे—सम्पादकीय टिप्पणियाँ तक—जिन्हें प्रान्त के कोने-कोने के नौजवान रहे हुए है, वे भी कुछ इसी तरह लिख गये। थोड़ी देर सोचा, एक शीर्षक ठीक किया, फिर लिखना शुरू किया—बस, उस शीर्षक के इर्द-गिर्द एक स्तूप-सा तैयार होता जाता है। सोच-समझकर मैंने उसकी नींव भर डाली थी; सारी इमारत तो आप ही आप तैयार हुई। हाँ, मैं मानता हूँ, असली चीज़ नींव ही है—किन्तु नींव ही इमारत नहीं है, यह भी तो यह प्रगट सत्य है।

कलाकार और कलाकृति के बीच के इस एक दूसरे को प्रभावित करनेवाले सम्बन्ध की मनोवैज्ञानिक जाँच-पड़ताल कुछ कम मनोरंजक वस्तु नहीं है। फ्रायड ने सपनों का विश्लेषण कर बड़ा नाम कमाया है—विश्लेषण के इस क्षेत्र की ओर भी मनोवैज्ञानिकों का ध्यान जाना चाहिये।

मेरी एक अपनी शैली है और वह शैली बहुत ही ज़ोरदार है, ऐसा प्रायः कहा जाता है। श्रद्धेय मैथिलीशरण गुप्तजी ने एक बार कहा था—गणेशजी (स्वर्गीय गणेश शंकर विद्यार्थी) के बाद आप ही की भाषा में मैंने वह ज़ोर पाया। सोचना यह है कि वह ज़ोर गणेशजी की भाषा में कहाँ से आया था; और फिर वह मेरी भाषा में कहाँ से आ गया! शैली जीवन से पृथक कोई वस्तु नहीं है। गणेशजी की शैली का स्रोत उनका बलिदानी जीवन है; मेरी शैली का स्रोत मेरा तूफानी जीवन रहा है! मेरी शैली में जो प्रवाह है, गति है, ज़ोर है, वह मेरी ज़िन्दगी में है। वकालत या प्रोफ़ेसरी की कुर्सी पर बैठकर आप उसे पा नहीं सकते; सिर्फ सम्पादक बन जाने या थोड़ी उर्दू पढ़ लेने से भी वह कहाँ प्राप्त हो सकता है? मैंने अपना यौवन तूफानों मे बिताया है इसलिए आप मेरी शैली में हवा के वे झोंके पाते हैं जो बड़े-बड़े वृक्षों को उखाड़ दें, बिजली की वह चमक

देखते हैं, जो आँखों को चकाचौंध में डाल दे। मैं मानता हूँ, उसमें ग़र्द-ग़ुबार भी है—वहाँ आपका बूढ़ा व्याकरण पनाह माँगता है; वहाँ लँगड़े मुहावरे लुढ़कते दीखते हैं—किन्तु, इसमें मेरा क्या क़सूर ? गति और गर्द साथ-साथ चलते हैं ! झरने का जल आपको पसंद न हो, तो कूएँ का पीजिये—बहुत से पनाले भी हैं !

मेरी परेशानी तो यह रही है कि अपने भीतर के तूफान को मैं काग़ज़ पर सही-सही उतार न सका। आँधी हवा का झोंका बनकर रह गई; बिजली चिनगारी में समा गई। आह, हमारे शब्दों में कितनी हीनता है, कितना अभाव है। वे अब तक न विचारों को सही रूप में प्रगट कर पाते हैं; न भावनाओं को। मस्तिष्क का कमल जिह्वा पर आते-आते कनेर बन जाता है। किन्तु बोलने के समय तो कुछ काम भी चल जाता है—शब्दों की हीनता को हम चेहरे की भाव-भंगिमा से, हाथों के इशारे से, स्वर के उतार-चढ़ाव से कुछ-कुछ ढँकने की कोशिश करते हैं; कुछ सफलता भी मिलती है इसमें। लेकिन काग़ज़ पर स्याही से उतरकर हमारे विचार, हमारी भावनायें सारी आग, सारी रंगीनी खो देती हैं ! उजले तुनुक काग़ज़ पर ज्वाला-मुखी का विस्फोट प्रगट करना; काली स्याही से इन्द्रधनुष की रंगीनियाँ चित्रित करना ! कितना कठिन ! इसीलिए कलाकार नये शब्द गढ़ता है, नये मुहावरे बनाता है, व्याकरण उसके आड़े आता है तो उसे आसमान में फेंक देता है ! आप उसे गालियाँ देते रहिये; उसने जिस किसी भी उपाय से एक नया चित्र—सही चित्र—बना लिया, तो वह अपने को धन्य समझता है, समझा करेगा !

जैसा कह चुका हूँ, लिखने के समय मैं शब्दों पर ध्यान नहीं देता। अनायास जो शब्द आते हैं, मैं लेता जाता हूँ। और, मैं अपने शब्दों की वफ़ादारी का क़ायल हूँ—जैसा प्रसंग, वैसे ही शब्द आ जाते हैं ! जहाँ ज़रूरत की ज़रूरत होती है; वहाँ आवश्यकता झाँकने

की भी गुस्ताखी नहीं करती ! और जहाँ आवश्यकता की आवश्यकता है, वहाँ ज़रूर मुझसे बहुत दूर खड़ी होती है ! शहरों के शब्दों के बनावटी रूप पर मैंने गाँवों के बोलों के भोलेपन को हमेशा तरजीह दी है ! ग्रामीण शब्दों और मुहावरों का मैंने प्रचुर प्रयोग किया है ! गाँव के वे अछूते, सूधे, सुथरे शब्द—कितनी जान है उनमें, कितना ज़ोर है उनमें—वे कितने सुन्दर हैं, वे कितने बलवान हैं ! एक-एक शब्द—एक पूरे चित्र का प्रतिनिधित्व करता है ! एक-एक मुहावरा—एक पूरी दुनिया छिपी है उसमें ! किन्तु जिनके पैर में महावर लगे हैं, वे देहातों में जायँ कैसे—इसीलिए एक तरफ़ पुराण के पन्ने उलटे जा रहे हैं; दूसरी तरफ़ क़ुरान की आयतें कोट की जा रही हैं ! भाषा को भी क्या अखाड़ा बना रखा है यारों ने !

एक मित्र ने एक बार कहा था—बेनीपुरी के फुलिस्टाप और कौमा बोलते हैं ! क्या सच ? कहीं कौमा और फुलिस्टाप बोलते हैं ? लेकिन मैं कहूँ, अगर नहीं बोलते हैं, तो उन्हें बोलना चाहिये। बोलने के समय जो काम हम चेहरे की भावभंगिमा से लेते हैं, लिखने के समय वे ही काम हमें विराम-चिन्हों से लेना है। हिन्दी में इनकी संख्या सिर्फ पाँच-छः है; हास्य और विस्मय के लिए सिर्फ एक चिन्ह। उनकी संख्या बढ़ानी होगी; लेकिन जब तक ऐसा नहीं होता, जो चिन्ह हैं, उनका प्रयोग तो होना ही चाहिये। मैं लिखते समय इन चिन्हों से खूब काम लेता हूँ और मैंने देखा है इनके प्रयोग से चीज़ें चमक उठती हैं।

फिर जिस तरह मैं बड़े-बड़े पेचीदे वाक्यों से भागता हूँ, उसी तरह बड़े-बड़े पाराग्राफ से। एक शब्द का भी मैंने वाक्य लिखा है—हाँ, एक शब्द एक पूरे चित्र को दे सकता है, जो एक वाक्य का काम है। यों ही एक पंक्ति के पाराग्राफों की भी मेरी रचना में भरमार है। छोटे-छोटे शब्द, छोटे-छोटे- वाक्य, छोटे-छोटे पाराग्राफ—देखने

में सुन्दर, पढ़ने में आसान, समझने में कोई दिक़्क़त नहीं। नावक के तीर छोटे होते हैं, किन्तु घाव गम्भीर करते हैं ! नावक के एकमात्र अधिकारी बिहारीलाल ही नहीं थे; शायद ज़माना कहेगा, किसी ज़माने में कोई बेनीपुरी भी था।

बिहार के लोक-गीत

पहले जंगल गूंजा, तब गाँव गूंजे, नगर का कोलाहल तो सबसे पीछे आया। पहले प्रकृति गूँजी, तब नारी ने गाया, पुरुष की तान तो पीछे शुरू हुई। पहले वन गीत तब ग्राम गीत—अन्त में दरबारों और नगरों का काव्य गीत। आज का युग दरबारों का है, नगरों का है—फलतः काव्य गीत की भरमार है। किन्तु मानव मन सिंह ठवनि का अनुसरण करता है। चलता है चलता है, रुककर पीछे देखता है, सिंहावलोकन करता है, फिर चल देता है।

हम जहाँ पर पहुँच चुके है, पीछे मुड़कर देखने की हममें स्वभावतः इच्छा हो रही है। एक तलहटी हमने पार कर ली, दूसरी पर पैर बढ़ाने के पहले हम मुड़कर सारी चीजों को देख रहे हैं।

हमारे पीछे का विस्तृत मैदान। वह नदी का कछार, कछार की बगल में वह कुटिया। पेड़ पर कोयल गा रही है, कुटिया में चक्की गा रही है! अपना तान पूरा एक ओर रखकर हम एक बार जी भर-कर सुन लेना चाहते हैं इन्हें।

विद्यापति—सूरदास—तुलसी—मीरा—प्रसाद—महादेवी—इन सब से बावजूद हम लोग गीतों के अनाम रचयिताओं की ओर आकृष्ट हो रहे है!

सिर्फ पूरा प्रेम ही हमें लोक-गीतों की ओर आकृष्ट नहीं कर रहा है। व्यक्तिवाद से ऊबकर हमारा ध्यान पूरे समाज की ओर जा रहा है। लोक गीत बिल्कुल ही सामाजिक रचनाएँ हैं। सम्पूर्ण समाज की वे सृष्टि हैं। कोई भी गीत किसी खास व्यक्ति के बनाये हुए हैं—श्लोक गीतों के बारे में ऐसा हम कह नहीं सकते।

इन सामाजिक रचनाओं में समाज की सामूहिक अनुभूतियों और प्रवृतियों का ऐसा सुन्दर चित्रण हुआ है, जैसा आप व्यक्तियों द्वारा रचे काव्य-गीतों में पा नहीं सकते। व्यक्ति और समाज में जो अन्तर है, वही है लोक-गीत और काव्य-गीत में।

काव्य-गीत में कारीगरी की अधिकता आप पा सकते हैं—वर्ग और शब्द, नपे-तुले स्वर और ताल बँधे-बँधाये अलंकार की वह लता, झंकार की भरमार।

लोक-गीतों में हृदय के उद्‌गार ही उद्‌गार होते हैं। न कोई निश्चित छन्द, न कोई निश्चित सुर। भाव और भाषा का वैसा प्रवाह होता है उनमें कि कण्ठ से निकलते ही हृदय में घर कर लेते हैं वे ?

काव्य-गीत गंगा से निकाली गई शारदा नहर है, लोक-गीत स्वयं गंगा है। हर-हर प्रवाहिनी शुभ्र-तोया पाप-ताप विनाशिनी।

नलों और नालों में नहानेवाले हम लोगों का मन रह-रहकर गंगा में नहाने के लिए तड़पे तो आश्चर्य क्यों ?

बिहार का भंडार लोक-गीतो से भरापूरा है इतना बड़ा भंडार शायद ही एक प्रान्त में संग्रहीत हो।

लोक-गीत का स्वर-मध्यम लोक-भाषा होता है। मैदानी हिस्से में तीन प्रमुख लोक भाषाएँ हैं—मैथिली, भोजपुरी और मगही। बिहार के पहाड़ी हिस्से—छोटा नागपुर और संथाल परगाना—में भी तीन प्रमुख लोक भाषाएँ है—उराव, मुंडा और संथाली। इन आधे दर्जन प्रमुख लोक-भाषाओं के अतिरिक्त भी कई स्थानीय बोलियाँ हैं जो संकुचित क्षेत्र में बोली जाने पर भी महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

मैथिली, भोजपुरी, मगही—तीनों के लोक-गीत बहुत ही विशद और रंगीन है। मैथिली और भोजपुरी के लोक-गीतों के तो अच्छे-

अच्छे संग्रह भी निकल चुके हैं। किन्तु अभी तक मगही गीतों का कोई संग्रह नहीं निकल पाया, यह खेद की बात है।

किन्तु, यहाँ भी एक बिचित्र बात हम देखते हैं। यद्यपि मैथिली, भोजपुरी और मगही के तीनों क्षेत्र प्राकृतिक दृष्टि से भी अलग बँटे हुए हैं, उनकी बोलियों में भी काफ़ी अन्तर है किन्तु तीनों के गीतों में अजीब साम्य है—सिर्फ भाव में नहीं, भाषा में भी।

बहुत से ऐसे गीत हैं, जो मिथिला, भोजपुर और मगह तीनों में थोड़े से भेद के साथ प्रचलित हैं। अभी मैं हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित 'भोजपुरी ग्राम गीत' में बेटी की विदा का यह करुण गीत पढ़ रहा था—

बाबा के रोवले गंगा बढ़ियली, आमा के रोवले अजोर।
भइया के रोवले चरण धोती भींजे, भउजी नयन वामेंलोर॥
अम्मा कहेंली बेटी नित उठ आव, बाबा कहेले छव मास।
भइया कहेंले बहिन काजे परोजन, भउजी कहेली दूर जाव॥

तो मेरी रानी, जो टेठ सीता जी की जन्म स्थली सीता मढ़ी की है, इन्हीं गीतों को बोल उठी—

बाबा के कनवे गंगा बहि गेलन, अम्मा के कनवे भींजए पटोर।
भइया के कनवे चनन धोति भीजिगेल, भउजी के हृदय कठोर॥
आमा कहेए बेटी नीते बोलाएव, बाबा कहेए छओ मास।
भइया कहेए बहिनी काजे परोजन, भउजी कहए दुर जाव॥

और साथी रजी की बहिन जो मगह की है पुराने मुसलमान खान्दान की है, इसी गीत को सिर्फ थोड़े परिवर्तन के साथ दुहरा रही है।

यों ये लोक-गीत न सिर्फ धरती और भाषा की परिखाओं को लाँघ जाते हैं किन्तु धर्म और मजहब की आहीनी किलेबन्दी को पार कर जाने में इन्हें कोई दिक्कत नहीं होती।

पहाड़ी बोलियों के लोक-गीतों की भी यही हालत है। उराँव, मुंडा, और सौंताली बोलियाँ बहुत ही विभेद रखती है, तीनों जातियों के रीत रशम में भी काफ़ी अन्तर है किन्तु उनके लोक गीतों में भी बहुत ही साम्य पाये जाते हैं। पलामू में गाये जानेवाले उड़ाव का यह सरहुल गीत—

केकड़े ने तुम्हें काट लिया है लकड़ी,
कौन तुम्हारी दवा दारू करेगा ?
तुम्हारा जोड़ी यहाँ नहीं है,
कौन तुम्हारी दवा दारू करेगा ?
केकड़े से काटी गई लकड़ी,
कौन इसकी मरहम पट्टी करेगा ?
इसका पति भूटान गया,
कौन इसकी मरहम पट्टी करेगा ?

थोड़े ही परिवर्तन के साथ सिंहभूम के मुंडो और दुमका के सौंतालों द्वारा भी गाये जाते हैं।

अभी बिहार के लोक गीतों का पूरा और प्रमाणिक संग्रह नहीं होने पाया है। यदि राँची से रक्सौल और बाँसी से बक्सर तक के लोक-गीतों का संग्रहकर उन्हें छः बड़ी-बड़ी शानदार जिल्दों में प्रकाशित कर दिया जाय तो बिहार का गौरव लोक-गीतों के क्षेत्र में भी स्थापित हो जाय। बिहार में लोक राज्य स्थापित हो चुका है। लोक-गीतों के संकलन, सम्पादन और प्रकाशन की ओर अब तक उसका ध्यान नहीं जा सका है यह खेद की बात है। अब इस ओर उपेक्षा नहीं होनी चाहिये।

चलिए इन लोक-गीतों की एक झलक भी हम देख लें ! मिथिला से ही शुरू कीजिए। तिरहुत निवासियों को अपने गीत पर कुछ अभिमान भी है। लोकोक्ति है—

कोकटी धोती पटुआ साग, तिरहुत गींत बड़े अनुराग।
भाव भरल तन तरुनी रूप, एतर्ष तिरहुत होइछ अनुपम ॥

'तिरहुत गीत बड़े अनुराग'—हाँ तिरहुत के गीतों में अनुराग का रंग बहुत गहरा है। अनुराग की परिणति होती है वियोग में। कृष्ण गोकुल छोड़कर मधुपुर चले गये। किसी ने कल्पना भी नहीं की थी कि माधव हमें छोड़कर चले जायेंगे? यदि इसकी खबर होती उन्हें रेशम की डोर में बाँध रखती। रेशम की डोर तो टूट जा सकती थी। नहीं, मैं उन्हें अपने आँचल में बाँध रखती। खैर, आँचल उस दिन काम नहीं आया, आज काम आवे। मैं उसे फाड़कर काग़ज़ बनाऊँगी और उस पर प्रेम-सन्देश लिख भेजूँगी। कुशल-मंगल लिखूँगी किन्तु बीच में? बीच में वियोग की कथा—

जब माधो चललन मधुपुर नगरिया,
छोड़ी देल सकल समाज, आहे सखिया।
एहो हम जनितो पिया मधपुर जयता,
बाँध तो मैं रेशम के डोर, आहे सखिया।
रेशम बँधनवा टूटिए फटि जएतई,
बँधि तो मैं अँचरा लगाये, आहे सखिया।
अँचरा के फारी फारि कागदा बनइ तौं,
लिखितों में पिया के सन्देश, आहे सखिया।
काते कुते लिखितों दुनों के कुशलिया,
बीच में पिया के वियोग अहे सखिया।

यदि मिथिला अनुराग प्रधान है, तो भोजपुर शौर्य्य प्रधान। और भोजपुरी शौर्य्य के सबसे बड़े प्रतीक तो हैं विद्रोही वीरकुँअरसिंह। लोक-गीत उनकी वीर कथा को अन्तिम परिणति में करुणा के साँचे में ढालता है—

लिखि-लिखि पतियाँ भेजलन कुंवरसिंह,ए सुन अमरसिंह भावे हो राम !
चमड़ा के टोंटवा दाँत से हो काटे, कि छतरी के धरम नसाये हो राम।
बाबू कुँवर सिंह और अमर सिंह दोनों अपने है भाय, हो राम।
बतियाँ के कारण बाबू कुंवरसिंह, फिरंगी से रार बढ़ाय, हो राम।
दानापुर में सजइलन हो कम्पू कोइलवर में रहे छाय हो, राम।
लाख गोला तोहँक गतिके मरिहौं छोड़ बरहरया के राज, हो राम।
रोवत बाड़े बाबू कुँवर सिंह मुखवा पर धरके रूमाल, हो राम।
लागल लड़इया हम तो वयसमें अब कवन होइहें हवाल, हो राम !

और अब मगह के एक लोक-गीत में दुल्हे पर पड़नेवाली चाँदनी का दृश्य देखिये—

आज सुहानी रात चन्दा तुम उगियो। मौरी पर उगियो, कोंदे पर उगियो जोड़े पर उगियो, चादर पर उगियो।

आज सुहानी ॥

मोजे पर उगियो, मेंहद पर उगियो, घोड़े पर उगियो, चाबुक पर उगियो, दुल्हे पर उगियो, दुल्हन पर उगियो,

आज सुहानी रात ॥

हाँ ! हाँ ! आज की रात साधारण रात नहीं है। यह सुहानी रात—चाँद तुम्हे सिर्फ नीले आस्मान पर ही उगना नहीं है। वहाँ सिवा एक विशाल शून्य के और क्या धरा है ! आओ, इस धरा पर उगो—धरा के शृंगार इस दुल्हे पर उगो—उसके मौर पर उगो, जोड़े पर उगो, चादर पर उगो, मोजे पर उगो, मेंहदी पर उगो ! घोड़े पर उगो, उसके हाथ की चाबुक पर उगो और जब दुल्हे पर उगा, तो फिर दुल्हन पर क्यों नहीं उगो ! अरे, आज की रात जो सुहावनी है !

और अन्त में चलिये राँची के जंगल में ! आज हमारा राष्ट्र जिस शोक में है, शायद उसी का चित्रण यह वन-गीत कर रहा है—

पेड़ पर है लाल चिड़िया,
तीर लगे, चिड़िया, गिरीं,
पेड़ स्तब्ध है !

जंगल में हैं बारहसिंगे और हिरनों पर गोली चली, हिरनें मरीं, जंगल का सिर झुक गया ! नदी की धारा में मछलियाँ हैं, जहर की लता डाल दीं, मछलियाँ मर गईं

धारा गँदली हो गई !

लेकिन सिर्फ रोने-धोने से क्या होता है; अब हमें वह बोझ ढोना ही है हजारी बाग के जंगल से वह आवाज आ रही है।

हे बाबू—हे हो,
हे भैया—हे हो,
थोड़ा और—हे हो,
मन से खीचो—हे हो,
भैया मेरे—हे हो,
थोड़ा थोड़ा—हे हो,
हे बाबू—हे हो,
बाबू की जय—हे हो,
भैया की जय—हे हो,
बोलो बोलो—हे हो
ले लिया है—हे हो !!

जेल के वे दिन

लम्बी, मोटी, काली चाभियों का कम-से-कम आधे सेर का गुच्छा जब एक बार ही झन-झन कर उठा और दस मन वज़न का इस्पाती फाटक जब हड़हड़—किट्किट् करके खुला और बन्द हुआ, तो मैंने देखा ज़िन्दगी में पहली बार, १९३० की १५ अप्रैल को मैं जेल के आँगन मे हूँ और मेरे चारों ओर अट्ठारह फ़ीट ऊँची दीवारें खड़ी हैं।

वे काली कलूटी दीवारें—बाहर रहकर आप समझ नहीं सकते कि ये क्या चीज़ हैं? बर्नार्डशॉ ने कहा है—फाँसी की तरह जेल की भी क्षति-पूर्ति नहीं हो सकती। फाँसी दे दी गई, आदमी मर गया, फिर उसकी क्षति-पूर्ति क्या हो सकती है? लेकिन लोग समझते हैं, सज़ा काटने के बाद जब क़ैदी छोड़ दिया गया, तो किसी-न-किसी रूप में उसकी क्षति-पूर्ति की जा सकती है। आजकल हमारी स्वराज-सरकारें हमारे देश भक्तों को उनके जेल जाने के उपलक्ष में कुछ क्षति-पूर्ति करने की कोशिश कर रही हैं—उन्हें ज़मीन मिल रही है, नौकरियाँ दी जा रही हैं। यों ही हमारे जो नेता मिनिस्टर, स्पीकर या पार्लिया-सेक्रेटरी बन गये हैं, समझा जाता है, यह उनके जेल-जीवन की क्षति-पूर्ति है। लेकिन यह धारणा बिल्कुल ग़लत है। बर्नार्डशॉ ने बिल्कुल सही कहा है—जेल की क्षति-पूर्ति हो नहीं सकती! उनसे छोटे लोगों की बात छोड़िये, पं० जवाहरलाल जी के स्वभाव में जो आप जब-तब आकस्मिक विस्फोट होते देखते हैं; या सरदार पटेल साहब के जीवन में आप जो इस्पातपन पाते हैं, उसका कितना अंश इन काली दीवारों से मिला है। यदि इसका मनोवैज्ञानिक

विश्लेषण किया जाय, तो संसार के इस सर्वश्रेष्ठ कलाकार के कथन की सच्चाई आप समझ सकें !

अपराध सदा होते आये हैं—बाबा आदम ही जब नहीं बचे, तो हम उनके बाल-बच्चों का क्या पूछना ? और अपराध के लिए सजायें भी सदा मिलती आई हैं ! किन्तु सज़ा के लिए जिसने इन दीवारों की पहले-पहल सृष्टि की, वह मानवता का कितना बड़ा शत्रु था ! जंगली जानवरों के बीच में रख दीजिये, किसी सुदूर सुनसान द्वीप में डाल दीजिये, यह अच्छा। किन्तु आदमी के बीच में रखकर आदमी से इतनी दूर कर देना ! उफ़—ये अट्ठारह फ़ीट ऊँची दीवारें—और वह भी शुरू के दिनों तक ! मालूम होता है, साँस घुट रही है, आपको दो पाटों के बीच में पीसा जा रहा है !

लेकिन, हम तो राजबंदी के रूप में गये थे—इसलिए होठों पर हँसी रखना ही था ! दिनभर साथियों की गप-शप में समय कट भी जाय, लेकिन रात। और, वह भी पटना की गर्मियों की रात अट्ठारह फ़ीट ऊँची इन दीवारों के अन्दर !

छोटा-सा हमारा खटाल और बड़ी-सी हमारी तायदाद। ऊपर से मच्छड़ों के धावे, नीचे से खटमल की चढ़ाई ! सारे जेल में गिनती का कुहराम—'एक, दो, तीन, चार, पाँच, छ,'·····जंगला-बत्ती ठीक है, फाटक ताला ठीक है, गिनती करो·····नम्बर ! नाना तरह के स्वर—अजब ढंग के चढ़ाव-उतार। रह-रहकर जमादारों के बूट का चरमर—पसीने की बू, अपच भोजन की बू, पेशाब खाने की बू, फिर घर की याद, मित्रों की याद, अधूरे कामों की याद, दिये गये वादों की याद। दिमाग में वह कुहराम, जो जेल के इस कुहराम को भी मात कर दे। और शाम को जो काली-काली रोटियाँ आई थीं और घास के डंठलों का साग—दो कौर भी आप खा सके थे ? इसलिए पेट में

अलग कुहराम—रात भर क्या सोच सकते थे आप ? काश, भोर में आप अपना चेहरा देख सकते ? अच्छा हुआ कि आइना तक गेट पर ही रख लिया गया था !

घंटी बजी, गिनती हुई, फाटक खुला। बेड़े में बन्द मानव—पशु बाहर निकले। पाखाने में कोई पर्दा नहीं—पाँत में बैठ जाइये। आप बैठे है और कुछ बेचारे आपके सर पर खड़े हैं—प्रकृति का जोर जो उन्हे परेशान किये है। अब यहाँ से नंगे निकलकर दूर के उस नल पर आबदस्त लीजिये। फिर हाथ-मुँह धोने का स्वांग करके खिचड़ी खाइये—जेल की वह खिचड़ी जिसे भिखारी ठाकुर के प्रेम-गान में अन्दर का स्थान मिला है ! पिल्लू तैर रहे, कोई मुजायका नहीं—निगल जाइये ! दिन में भात मिलेगा—बिहारी तबीयत उछल रही है ! यह भात—इसका रंग ! और जरा गौर से देखिये—भात में कंकड़ है, या कंकड़ में भात। एक मित्र धोती का फेटा संभाल रहे है। यह क्या भाई ? जरा इस तसले में डुबकी लगाकर देखना चाहता हूँ कि कम्बख्त दाल कहाँ जा बैठी है ? सब हँसते है ! हाँ भाइयों, हँसो, हंसो, खूब हँसो। हम नहीं हँसेंगे, तो ये काली दीवारें हमें लील जायँगी, शरीर बच भी जाय, आत्मा तो बच नहीं सकती !

यह रोटी नहीं खायँगे, यह दाल नहीं खायंगे, यह साग, यह भात—नहीं, नहीं ! तसले फेंके जा रहे हैं—सजायें भुगती जा रही है। आज अपने उन बहादुर साथियों की याद आँखों में आँसू ला देती है जिन्होंने तरह-तरह की सजायें भुगतकर,—लाठी चार्ज, पेनल डायट, गनी-क्लौथ, खड़ी हथकड़ी, बेंत, कोड़े सब बर्दाश्त कर जेल के भोजन और रहन-सहन में सुधार कराया। जेल का साधारण क़ैदी भी आज रोयें-रोयें से उन्हें आशीर्वाद दे रहा होगा !

किन्तु, मैं तो बड़े लोगों की टोली में था। दो सप्ताह की झंझट रही, फिर ऊपर दर्जे का राजबंदी बनकर हज़ारी बाग पहुँचा।

हज़ारी बाग़ का वह गोरा लँगड़ा सुपरिन्टेन्डेन्ट––जिसने अपने बच्चे की जीभ काट डाली थी, जिसने अपने हाथ पर साँप की तस्वीर गुदवा रक्खी थी और जिसने बाबू राम नारायण सिंह एम० एल० ए० को गनी क्लौथ पहनाकर, खड़ी हथकड़ी देकर टाँग दिया था।

मालूम होता था, हमसे ठनकर रहेगी कि हमारे सौभाग्य और गया जेल के राजबंदियों के दुर्भाग्य से उसकी बदली हुई। गया में उसने जुल्म की हद कर दी और एक दिन वह अपने कमरे में मरा हुआ पाया गया—कहा गया उसने आत्म हत्या कर ली है!

उसके बाद हज़ारी-बाग़ 'हज़ारी-बाग़' हो गया और हमेशा बना रहा। बासमती का चावल, मूँग की दाल, तरह-तरह की तरकारियाँ, मेवे और दूध, मांस-अंडे, पलंग-गद्दे! बेचारा यतीन्द्रनाथ दास अनशन में मरकर जरूर ही स्वर्ग में होगा, क्योंकि हमें जिन्दा ही स्वर्ग-सुख उसने दे दिया! कहीं ताश, शतरंज—कहीं गीता और कैपिटल! प्रांत के सभी बड़े लोग एकत्र हुए वहाँ! स्वर्गीय बाबू दीपनारायण सिंह का वह शाही दरबार जिसे देखकर इन्द्र देवता भी ललच जायँ। स्वर्गीय राम दयालु सिंह का वह ऋषि-जीवन! प्रति दिन राजेन्द्र बाबू जेल के कारखाने में पहुँचकर नीवार बुनते···जेल में भी तो हम प्रजा का अन्न खाते हैं, इसलिए कुछ काम कर देना ज़रूरी है! लेकिन श्री बाबू को पुस्तकों से कहाँ छुट्टी और हमें तो वहाँ हजार काम करने थे···अखबार निकालना, कवि-सम्मेलन करना, परेड कराना, तरह-तरह के उत्सवों का आयोजन करना और कुछ पढ़ना।पढ़ाना भी! इस धूम-धाम में छः महीने की सज़ा किस तरह कट गई; मालूम नहीं हुआ।

बाहर आकर अपने 'युवक' का पहला अंक ही निकाल पाया था

कि जेल का परवाना फिर मिल गया और जब-तब हमारे नेता १९३२ के सत्याग्रह में जेल पहुँचे, उसके पहले ही डेढ़ साल की सज़ा पाने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हो चुका था !

इस बार थोड़े दिनों तक हजारीबाग के मज़े लूटे थे कि मेरा डिवीजन तोड कर मुझे पटना कैम्प-जेल भेज दिया गया।

पटना कैम्प-जेल। हमारा सुपरिन्टेन्डेन्ट कहा करता था, पहले हिन्दुस्तान में दो चीजें देखने को थीं—हिमालय और ताजमहल ! किन्तु आज तीन है और यह तीसरी है मेरा यह कैम्प जेल ! उफ़, बिहार के चार हज़ार बददिमागों की वह अजीब बस्ती—न दीवारें न मकान। चारों ओर काँटे का घेरा···भीतर टीन की छोलदारियाँ। गर्मी में टीन इतना गरम हो जाता कि हम झुलस जाते, जाड़े में इतना ठंडा हो जाता कि हम सिकुड़ जाते और बरसात में कीचड़, साँप, बिच्छू सब के मज़े एक साथ। किन्तु, इस कैम्प को कई अंशों में दर्शनीय बना रखा था, हमारे सुपरिन्टेन्डेन्ट ने। पटना में रहते हुए भी इस कैम्प में न आप एक मच्छड़ पा सकते थे, न एक मक्खी। हमारे सुपरिन्टेन्डेन्ट को न कुदाल चलाने में शरम, न पाखाना साफ करने में हिचक। वह कब हमें प्यार करेगा और कब तिकटी पर चढ़ा देगा इसका भी कोई ठिकाना नहीं था। हम बद-दिमाग़ थे तो वह बद-दिमाग़ों का बादशाह था।

दमन का ऐसा अंधा-धुंध था कि काने, खोड़े, कुबड़े की क्या बात कोढ़ी, बहरे और अंधे तक इसमें ठूँस दिये गये थे। न इसमें साधुओं की कमी थी, न लफंगों की। कोई ऐसी कला नहीं, जिसके कलाविद यहाँ न पहुँचे हों। बिदेशिया के नाच से लेकर गीता के प्रवचन तक होते ! कहीं कवि-सम्मेलन, कहीं संगीत-समारोह; कहीं कुश्ती कहीं परेड ! दिन भर जलसे होतेरहते, रात-भर नाच-गान होता रहता। तरह-तरह के जलसे—एक दिन हम लोगों ने बेवकूफ सम्मेलन भी किया, जिसके

सभापति का शानदार जुलूस कूड़ागाड़ी पर निकाला गया था और उनपर झाड़ुओं के चँवर डुलते थे !

यह विलिंगटनशाही की बदहवासी ही थी कि बाबू रामदयाल सिंह प्रोफेसर अब्दुल बारी और भाई विनोदा नन्द झा ऐसे आदमियों को भी उसने इस कैम्पजेल में 'सी' क्लास का कैदी बनाकर भेज दिया था। बिना बाहों के धारीदार कुर्त्ता और बिना छोरी के जाँघियाँ में वे लोग कैसे फबते थे—इसकी कल्पना कीजिये। यहीं स्वर्गीय बाबू रामदयाल सिंह का नेतृत्व देखा—इन चार हजार बद-दिमागों को एक संगठन-सूत्र में बाँध देना उनका ही काम था। जेल भर में चुनाव कराके एक बजाप्ता मंत्रि-मंडल उन्होंने कायम करा दिया था जिसमे शिक्षा-मंत्री की हैसियत से मैं एक राजबंदी-महाविद्यालय का संचालन करता। वहीं बहुत से उडिया भाइयों को मैने हिन्दी सिखाई। जिन्दगी में पहली और आखिरी बार वहीं मैं मास्टर साहब, आचार्य-मोशाय, गुरुजी आदि नामों से पुकारा गया !

जेल से छूटा, तो बिहार का भूकम्प; फिर नये विधान के अनुसार चुनाव आदि। किसी तरह चार साल की छुट्टी रही।

१९३७ की पहली अप्रैल—फूलसडे-को जब मि० यूनूस की आन्तरिक मिनिस्ट्री बनी, तो उसके विरोध में प्रदर्शन करने के कारण साथी जयप्रकाश के साथ फिर मुझे सीटी जेल, पटना जेल और हजारी बाग़ जेल की हवा खानी पड़ी। हजारी बाग़ में हम इस बार उसी वार्ड में रखे गये थे, जहाँ १९३२ में सरहदी गाँधी अपने भाई डा० खान साहब के साथ नजरबन्द किये गये थे। खान बन्धुओं ने अपने हाथों से मोतिये और गुलाब के जिन पौदों को लगाया था; उन्होंने पाँच साल के बाद हमें कितना आनन्द दिया। मालूम होता, हम कहीं चमनिस्तान में रखे गये है। इस मजे को दुबाला कर देना जयप्रकाश जी के हाथ का बनाया तरह-तरह का खाना। वहीं जिन्दगी मे मैंने

पाई खाई—Eating humble pie का क्या मतलब, तब समझ में आया। लेकिन आखिरी दिन बहुत बुरे गुजरे। मेरे मझले लड़के की मृत्यु की खबर मिली, फिर जयप्रकाश जी के पिता जी की मृत्यु की। उफ़ जेल मे किसी प्रियजन की मृत्यु की खबर किसी को नही मिले। ऊँची काली दीवारों से घिरी इस सँकरी जगह में शोक कितना सघन हो जाता है, वह मर्म की किस तह तक पहुँच जाता है, इसे कोई भुक्तभोगी ही जान सकता है।

जिस दिन मै हजारी बाग़ से छुटकर आ रहा था, श्री बाबू गवर्नर से मिनिस्ट्री लेने राँची जा रहे थे। रास्ते में भेंट हुई। मैंने हँसते हुए कहा—तीन महीने की यूनुस सरकार ने भी मुझे अछूता नहीं छोड़ा, देखना है, देखना है आपकी मिनिस्ट्री में····। और मैं क्या जानता था, यह भी होकर रहेगा। कांग्रेसी मंत्रिमंडल के राज्य में भी एक हड़ताल के सिलसिले में मुझे एक रात के लिए जेल की मेहमानी मंजूर करनी पड़ी—हाँ, मेहमानी ही थी वह। सुस्वाद भोजनों से पेट भर कर, जेल की अँगनाई में, चाँदनी से धुली और बेलों के गजरों की सुगंध बसी शय्या पर रातभर मधुर सपनों की नीद लेता रहा; और भोर में ही छुट्टी मिल गई!

द्वितीय विश्व युद्ध १९३८ में शुरू हुआ और जैसे जेल जाने की स्थाई दावत मुझे मिल गई। सीटी सब जेल, पटना जिला जेल, हजारी बाग़ सेन्ट्रल जेल, सीवान सब जेल, छपरा जिला जेल, हाजीपुर सब जेल, मुजफ़्फरपुर जिला जेल, सीतामढ़ी सब जेल, दरभंगा जिला जेल, मधुबनी सब जेल, हजारी बाग़ सेन्ट्रल जेल, गया सेन्ट्रल जेल, भ्राम्यभान् विविधान लोकान्। जिधर जाता वारंट पीछे लगा रहता। मेरे इस सौभाग्य पर रश्क खाकर ही एक मित्र ने कहा था—तुमने तो जीनोर्खव को भी छका दिया। कहा जाता है, ज़ारशाही के जमाने में उसके पीछे भी इसी तरह वारंट घूमा करता था।

छपरा जेल का वह सेल जहाँ से बिहार के शेर श्री योगेन्द्र शुक्ल ने भागने का इन्तजाम किया था। सीवान का गुलजार सिंह नामक डाकू जो आदमी का मारना मच्छड़ मारने के समान समझता और खून के फव्वारे निकलते देखकर आनन्दोन्मत्त हो उठता; मुजफ़्फरपुर का वह स्थान जहाँ बम के प्रथम पुजारी खुदीराम बोस को फाँसी हुई थी; दरभंगा जेल का वह पाकड़ का पेड़ जिसके नीचे बैठकर १९४२ की क्रान्ति में जेल में क्या करना होगा, इसकी योजनायें बनाता; सीतामढ़ी जेल का वह फूलों से भरा आँगन जहाँ चुप चोरी संध्या को अपने बेटे को बुलाकर गाना सुनता; मधुबनी जेल का वह जनाना किता जिसकी किवाड़ के छेद से दिखाई पड़ने वाली एक मासूम आँख आज भी भुलाये नहीं भूलती और गया जेल का फाँसी का वह तख्ता जिस पर बिहार का प्रथम शहीद वैकुंठ शुक्ल उछलकर चढ़ गया था—इन सब की याद आज हजूम बाँधकर सामने आ खड़ी है; किसको छोड़ूँ, किसको लूँ ? कई कोड़े खाने वालों की चीख इस समय भी रोंगटे खड़े कर रही है और जिन तीन आदमियों को अपनी आँखों फाँसी पर चढ़ते देखा, वे क्या जिन्दगी भर भूल सकेंगे !

फ़ाँसी···उफ़। सबसे बुरी बात यह होती है कि सजा के बाद क़ैदी को एक अलग सेल में रख दिया जाता है और उस पर फाँसी की तख्ती टाँग दी जाती है। बेचारा सबसे अलग होकर दिन-रात मौत की घड़ियाँ गिनता रहता है। कितना भयंकर मानसिक उत्पीड़न। तो भी कुछ लोग किस शान से मरते हैं। जिन तीन की मौत मैंने देखी, तीनों साधारण मुजरिम थे। एक ने डायन समझकर अपनी सास की हत्या की थी···आदिवासी था; वह धाड़ मारकर रो रहा था, उसे घसीटकर फाँसी के तख्ते पर चढ़ा दिया गया। दूसरा एक खुशहाल किसान था, खेत के लिए झगड़ा हुआ, खून हो गया। बड़ी

शान्ति से फाँसी पर चढ़ गया। और तीसरे ने अपनी बीबी की हत्या की थी उसे कुल्टा समझकर, वह फाँसी पर इस तरह चढ़ गया, जैसे उसने एक महान् पुण्य-कार्य किया हो !

मैं हजारीबाग में ही था कि जयप्रकाश जी जेल से भाग गये। इस सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा-पढ़ा गया है। उनके भागने के बाद हम समाजवादी समझ रहे थे कि वे लोग तो गये, अब बेभाव की पड़ेगी हम पर। किन्तु यह क्या ? एक रात जब हम लोग खा-पीकर सोने की तैयारी कर रहे थे कि बाबू राम नारायण सिंह, बाबू कृष्ण बल्लभ सहाय और बाबू सुखलाल सिंह को चुपचाप बिना किसी सरोसामान के भागलपुर जेल भेज दिया गया। इसी को देहात में कहते हैं—पकड़े के गोड़, न पकड़ लेलम बड़के सोर !

जयप्रकाश जी के भागने के बाद वहाँ जो सुपरिन्टेन्डेन्ट आये वह पहले बर्मा में आई० जी० थे, जापानी कब्जा होने पर भागकर आये थे। बड़ी अकड़; बड़ी शान। लेकिन भूल गये थे यह बरमा नहीं, हिन्दोस्तान है और उसमें भी बिहार। हाँ बिहार का जेल राज-बंदियो की सुख-सुविधा और इज्जत-प्रतिष्ठा के लिए विख्यात रहा है। उनकी अकड़ हमारे बुजुर्गों ने तो बर्दास्त की, लेकिन हमें अखर गई। कुछ-कुछ आँख-मिचौनी चल ही रही थी कि वह साहब आई० जी० होकर चले गये और इधर स्वाधीनता दिवस आ गया ! नये आई० जी० साहब ने तय किया कि जेल में स्वाधीनता दिवस नहीं मनाने देंगे। वह हजारीबाग आकर बैठे। हम लोगों के गुप्तचर भी जेल-अफ़सरों पर लगे रहते थे, हमें जब यह खबर मिली, तो हमने भी पूरी तैयारी शुरू की। जेल में ही झंडे बनाये गये; प्रतिज्ञा-पत्र की कापियाँ तैयार की गईं और सब लोगों में उन्हें बाँट दिया गया। किन्तु यह क्या ? २५ की रात में ही कमरे-कमरे की तलाशी शुरू हुई। कुछ झंडे मिले, वे खुश-खुश चले गये। जैसे-तैसे रात कटी, किन्तु भोर में

कमरों के दरवाजे नहीं खुल रहे हैं। आज दिनभर कमरों में ही बन्द रखा जायेगा हमें—अच्छी बात !

पर आई०जी० साहब का सारा इन्तजाम फिजूल गया। जब आठ बजे कमरे-कमरे से महसरी के डन्डों में लगकर झंडे बाहर लहरा रहे थे और लोग एक स्वर से 'झंडा ऊँचा रहे हमारा' गा रहे थे ! शाम के पाँच बजे फिर कमरें में ही स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा एक स्वर से दोहराई गई। ईनाम में हम रात भर और बंद रहे ! भोर में सीखचों से बाहर किये गये, तो हमारी हालत भूखे शेर की थी। आई० जी० साहब अपने कोट के छेद में गुलाब का एक फूल लगाये, शान से मुआइने में आ रहे थे कि लोग फाटक की ओर दौड़ गये और सरेआम झंडा उड़ाकर गीत गाने और नारे लगाने लगे। आई० जी० साहब की हैकड़ी भूल गई। हमारे नेताओं से मिले, तो उनके कहने पर मामला शांत हुआ।

लेकिन, आई० जी० इसे क्षमा नहीं कर सकते थे। उन्होंने मेरा डिवीजन तोड़कर गया जेल के रौरव-नरक में मुझे भेज दिया।

हाँ, बिहार के जेलों में कोई रौरव-नरक है, तो गर्मियों में गया सेन्ट्रल जेल। प्रेतशिला का नंगा पहाड़ उसकी बगल में है, जो गर्मियों में इस जेल को जलता हुआ आवा बना देता है। वहाँ रात में भी लू चलती है ! एक रात को मैं सेल में ही बेहोश हो गया ! प्रान्त के कुछ छोटे-छोटे बदमाशों को वहाँ इकट्ठा कर दिया गया था। बस यही तो चाहिये—जहाँ दस-पाँच छँटे पहुँच गये तो कहाँ रौरव, कहाँ नन्दन-कानन ! गया में भी ऐसी कटने लगी कि हजारी बाग़ भी मात !

जैसा मैं कह चुका हूँ, जेल-जीवन को मैं मानवता का अभिशाप मानता हूँ। यह तो हमारा राजनीतिक आदर्शवाद था कि इसे हमने हँस-हँसकर स्वीकार किया था। तो भी वहाँ हमारी कमजोरियाँ

कितनी जल्द और किस वेग से बाहर आ जाती थीं। वहाँ एक बीड़ी, एक प्याज़, एक बूँद तेल के लिए साधारण क़ैदी कौन से कुकर्म नहीं करते हैं? तो हम भी एक पैकिट सिगरेट, पाव भर दूध या एक नाजायज़ चिट्ठी या मुलाकात के लिए कितना नीचे उतर सकते हैं—यह जेल में ही आप देख सकेंगे। जेल के अफसर इन मानवी कमज़ोरियों को जानते हैं। फलतः उन्होंने हमारे बड़े-बड़े अगरधत्तों की नाक में नकेल देकर वे नाच नचाये, जिनकी कल्पना आज भी हमें शरम में डाल देती है!

एक दरजन दफा जेल में जाने और एक दरजन जेलों की सैर करने के बाद मेरा यह अनुभव है कि पहला साल जेल जेल रहता है, दूसरे साल सेल हो जाता है और तीसरे साल हेल! हाँ, तीसरे साल बिल्कुल नरक। और उसके बाद? उसके बाद जेल की दीवारों और जेल के क़ैदियों में कोई अन्तर नहीं रह जाता—वे दीवारों की ही तरह निर्जीव, निष्प्राण, हृदयहीन, भावनाहीन बन जाते हैं! जिस समाज में जेल हो, मैं उस समाज को सभ्य समाज कह नहीं सकता! फाँसी की तरह ही जेल की भी क्षतिपूर्ति हो नहीं सकती। वह हमारे चरित पर ऐसी खरास, ऐसी खरोंच पैदा कर देता है, जो कभी भरती नहीं, मिटती नहीं। हमारी पूरी पुश्त पर इस जेल-जीवन की छाप है और हम जो प्रायः ही अस्वाभाविक ढंग से काम कर बैठते हैं, सो इस छाप के ही कारण! फाँसी आदमी को मारता है, जेल आदमियत को!

शकुन्तला

१

दुष्यन्त—उफ़, यह हिरन कितनी दूर तक हमें खींच लाया, सारथि ! अरे— देखो, देखो, कितना सुन्दर ! सुन्दर गर्दन को मोड़कर यह बार-बार हमारे रथ को देखता है; तीर लग जाने के भय से शरीर के पिछले भाग को जैसे अगले भाग में घुसा लेना चाहता है; थकावट के कारण मुंह खुल जाने से आधी-आधी चबाई घासों से रास्ता भर रहा है और, और, ऊँची-ऊँची छलाँग भरता हुआ यह उड़ता सा ही दीखता है ! (साश्चर्य) ओहो ! अब तो यह मुश्किल से दिखाई पड़ता है, सारथि !

सारथी—ज़मीन ऊँची-नीची है, इसलिए रास खीचकर रथ की गति धीमी कर दी थी, महाराज ! अब समथर भूमि आई है, हिरन जायगा कहाँ ?

दुष्यन्त—तो रास ढीली कर दो ।

सारथी—जैसी आज्ञा, महाराज ! (रथ में गति) अहा, देखिये, देखिये, महाराज,—रास ढीली करते ही ये घोड़े ऐसे भगे कि इनके सूमों से उठी धूल भी इन्हें नहीं पकड़ पाती; चाल ऐसी सम है कि सिर की कलँगी तक नहीं हिलती-डुलती; अहा, अपने दोनों कानो को उठाये सटाये ये इस तरह जा रहे है कि समझ में नहीं आता कि ये दौड़ रहे है या तैर रहे हैं ।

दुष्यन्त—(सानन्द) ओहो, हमारे घोड़ों ने हिरन को भी मात दे दी—जो पहले सूक्ष्म दीखती थी, वह अचानक स्थूल हो रही है; जो बीच से कटी-सी मालूम होती थी, वह जुड़-सी रही है; जो

स्वभावतः ही टेढ़ी थी, वह सीधी दीखने लगी है; रथ की गति ऐसी क्षिप्र है कि इसका निर्णय कठिन हो रहा है कि कौन-सी चीज़ नज़दीक और कौन-सी चीज़ दूर है।

सारथी—देखिये, वह सामने हिरन खड़ा है—निशाना लगाइये।

दुष्यन्त—अभी-अभी·····

[दूर से तपस्वियों के शब्द]

तपस्वी—रुको ! रुको महाराज ! यह आश्रम का मृग है—इसे मत मारो; मत मारो !

सारथी—महाराज, आपके वाण और मृग के बीच में आश्रम के दो तपस्वी खड़े है।

दुष्यन्त—(ससम्भ्रम) रास खींचो, रथ खड़ा करो·!

सारथी—जैसी आज्ञा महाराज !

[एक तपस्वी अपने शिष्य के साथ]

तपस्वी—महाराज, यह आश्रम का मृग है, इसे मत मारिये, मत मारिये ! कहाँ बज्र के समान आपके तीखे वाण और कहाँ हरिन के चंचल प्राण ! रूई के गोदाम में आग फेंकना और इन हरिनों के कोमल शरीर पर वाण मारना—दोनों एक हैं महाराज ! आप ऐसे प्रतापी राजा के वाण आर्त्तों की रक्षा के लिए होने चाहिए न कि निरपराधों की हत्या के लिए ! धनुष से वाण उतारिये, महाराज !

दुष्यन्त—प्रणाम तपस्विवर ! आपकी आज्ञा सिर आँखों पर !

तपस्वी—पुरु-वंश की मर्यादा के अनुरूप ही आपकी यह नीति है महाराज ! भगवान आपको चक्रवर्ती पुत्र दें !

दूसरा तपस्वी—हाँ, आपको चक्रवर्ती ही पुत्र प्राप्त हो।

दुष्यन्त—ब्राह्मण का आशीर्वाद सिर झुकाकर ग्रहण करता हूँ।

तपस्वी—महाराज, हमलोग यज्ञाग्नि प्रज्वलित करने के लिए समिधा लेने जा रहे है। यह देखिये, मालिनी के तट पर हमारे

कुलपति महर्षि का आश्रम दिखाई पड़ रहा है। यदि कोई हर्ज न हो, तो वहाँ जाकर आतिथ्य ग्रहण करें और देखें कि जिन बाणों के घर्षण से आपकी भुजाओं में घिस्से पड़ गये है, वे ऋषियों की तपश्चर्या को किस प्रकार निर्विघ्न सम्पन्न करा रहे हैं।

दुष्यन्त—क्या वहाँ कुलपति है ?

तपस्वी—अभी-अभी अतिथि-सत्कार का भार अपनी कन्या शकुन्तला को सौंपकर वह उससे भाग्य की बुरी रेखा को मिटाने के लिए सोमतीर्थ गये है !

दुष्यन्त—अच्छा, तो मैं जा रहा हूँ; वह मेरी भक्ति देखकर ऋषि से निवेदन कर देगी, ऐसी आशा है।

तपस्वी—हमलोग भी चलें, महाराज !

दुष्यन्त—सारथी, रथ को बढ़ाओ !

सारथी—जैसी आज्ञा !

दुष्यन्त—अहा, बिना कहे ही यह ज्ञात हो जाता है कि हम तपोवन में आ गये है, सारथि। खोंते में बैठे हुए सुग्गे के बच्चे के मुँह से गिरी धान की बालियाँ पेड़ों के नीचे बिखरी पड़ी ह, इंगुदी को फलियाँ तोड़ने से चिकने बने पत्थर के टुकड़े जहाँ-तहाँ दिखाई पड़ते हैं, हिरनों में इतना विश्वास है कि वे हमारे रथ के घर्रघर्र शब्द सुनकर भी चौंकते नहीं है और नदी-तट के मार्ग पर वल्कल से चूए जल की रेखायें खिच गई हैं !

सारथि—हाँ, महाराज !

दुष्यन्त—और भी देखो—हवा से चंचल बनी लहरियों से तट-भूमि के वृक्षों की जड़ें धुली-पुँछी है; यज्ञाग्नि के धूएँ से किसलय की लालिमा और ही रंग की हो गई है और जिनसे कुश के अंकुर उखाड़ लिए गए हैं, ऐसी उपवनभूमि मे हिरन के बच्चे किस तरह निश्शंक होकर धीरे-धीरे चर रहे हैं !

सारथि—बहुत ही सही कह रहे हैं, महाराज !

दुष्यन्त—सारथि, अब रथ रोक दो और लो यह मेरे धनुषबाण और राजकीय वस्त्राभूषण ! आश्रम में विनीत भाव से ही प्रवेश करना चाहिए न ?

सारथि—हाँ, हाँ, महाराज !

दुष्यन्त—और जब तक मैं आश्रमवासियों का दर्शन करके लौटूँ, तब तक तुम घोडो को भी ठडा कर लो ।

सारथि—जैसी आज्ञा महाराज की ।

* * *

[आश्रम में प्रवेश]

दुष्यन्त—यह आश्रम है ! अरे, यह क्या ? इस शान्त तपोवन में क्यों दाहिनी भुजा फड़क उठी ? यहाँ इसकी सार्थकता ? या होनहार के लिए हर जगह दरवाज़ा खुला रहता है ।

[नेपथ्य से] इधर-उधर आओ, सखियो !

दुष्यन्त—ओहो, यह कैसी आवाज़ ! यह तो दाहिने ओर की वृक्षों की झुरमुट से आ रही है । तो उधर ही चला जाय । (आगे बढ़कर देखते हुए) ये तो ऋषिकन्यायें है । किस तरह अपने प्रमाण के अनुरूप छोटे-बड़े घड़े लिए पौदों को सींचने के लिए आ रही हैं ! कितनी सुन्दर लग रही हैं ये ! जो रूप महलों में भी दुर्लभ है, उसकी आश्रम में ऐसी बहुलता ! अहा, वनलताओं ने उद्यान-लताओं को भी परास्त कर दिया । खैर, इस छाया-तले खड़ा होकर ज़रा चुपके-चुपके उन्हें देखूँ तो !

[सखियों सहित शकुन्तला का प्रवेश]

एक सखी—अरी शकुन्तले ! मालूम होता है तात कण्व को तुमसे अधिक प्रिय है । ये आश्रम-वृक्ष ! तभी तो नवमल्लिका की कोमल

कुसुम कलिका-सी सुकुमार तुम पर इन्हें सींचने का भार सौंपा है उन्होंने ।

शकुन्तला—बहिन अनुसूया, केवल पिता की आज्ञा ही नहीं है, मेरा भी तो इन पर सहोदर जैसा स्नेह है !

दूसरी सखी—सखि शकुन्तले, ग्रीष्मकाल में फूल देनेवाले आश्रम वृक्षों को तो तुम सीच चुकी; अब हम उन वृक्षों को सींचें जिनका फूल देने का समय बीत चुका । निष्काम कर्म महान फलदायक समझा जाता है न ?

शकुन्तला—प्यारी प्रियम्बदे, तुम्हारी राय बड़ी ही रमणीय है !

दुष्यन्त—क्या यही कण्व-तनया शकुन्तला है ? तो भगवान कण्व, क्षमा करें, आप में दूरदर्शिता का नितान्त अभाव है । ऐसी कन्या और उसे आश्रम-कर्म में नियुक्त कर रखा है आपने ? ऐसे स्वाभाविक मनोहारी शरीर से जो तपस्या की साधना की इच्छा रखता है, वह मानो नील कमल के पत्ते की धार से शाल का पेड़ काटना चाहता है! जो हो, मैं इस पेड़ की आड़ से इस रूप का रसपान करूँ ! (छिपकर देखता है)

शकुन्तला—बहिन अनुसूया, उफ़, प्रियम्बदा ने वल्कल को किस तरह कसकर बाँध दिया है; मुझे कष्ट हो रहा है, ज़रा इसे ढीला तो कर दे सखि !

प्रियम्बदा—(हँसती हुई) अरी, मुझे क्यों दोष दे रही है; दोष दे अपनी जवानी को जो क्षण-क्षण तुम्हारे वक्षस्थल को विशाल और विस्तृत बनाये जा रही है !

दुष्यन्त—बहुत ही ठीक कह रही है । यह प्रियम्बदा । अहा, काँधे पर बँधी हुई महीन गाँठवाले और दोनों स्तनों को बिल्कुल ढँक रखने वाले इस वल्कल से उसकी नई जवानी अपनी पूरी शोभा उस प्रकार नहीं दिखा पाती है जैसे पीले पत्तों के दोने में रखे हुए फूल जिनकी

एक झलक मात्र ही हमें प्राप्तहोता है ! लेकिन क्या ऐसा कहना भी उचित है ? सेंवार से घिरी हुई कमलिनी और भी सुन्दर लगती है और दाग़ों से भरे चन्द्रमा की मलिन चाँदनी और भी खिलती है ! यों ही इस वल्कल में भी यह तन्वी मनोरम ही लगती है—भला, सौन्दर्य के लिए शृंगार क्या चीज़ ? और, एक बात और भी···इस मृगनयनी के लिए निस्संदेह यह वल्कल कठोर है, तो भी यह सुन्दर ही लगता और मन में जरा भी रुचि भंग नहीं लाता है, जैसे विकसित कमलिनी जब जल से ऊपर सिर उठाती है तो उसके कर्कश वृत्तजाल उसकी शोभा में और भी वृद्धि कर देते हैं !

शकुन्तला—सखियो, यह आम का पेड़ हवा से हिलती हुई अपनी पत्तियों की उँगलियों से, जैसे कुछ कहने को, हमें बुला रहा है ! चलो, ज़रा उसका मान रख दें ! (जाती है)

प्रियम्बदा—यहाँ आई, तो थोड़ी देर यहाँ खड़ी रहो सखि ! देखती नहीं, तुम्हारे निकट रहने से यह आम का वृक्ष इस तरह सनाथ हो रहा है जैसा कि उसने लता ही पाली हो !

दुष्यन्त—प्रियम्बदा सच कह रही है । इस बाला के लाल-लाल अधर किसलय हैं, दोनों बाहुएँ शाखायें हैं और फूल के समान प्रलोभक यौवन इसके अंग-अंग में खिला पड़ता है !

अनुसूया—प्यारी शकुन्तला, क्या तुम भूल गई कि इस आमवृक्ष की वधू यह नवमल्लिका है, जिसने स्वयं इसे बरा है और जिसे तुमने वन-तोषिणी अभिधा दे रखी है !

शकुन्तला—यदि इसे भूलूँ, तो अपने को भूल जाऊँ सखि ! अहा, इन दोनों के सम्मिलिन का शुभ मुहूर्त्त जैसे निकट आ गया है ! जब नवमल्लिका नई कलियों से लद-सी गई है और आम-फलों के बोझ से विह्वल-सा बन रहा है !

प्रियम्बदा—शकुन्तला को यह वन-तोषिणी क्यों पसंद है, जानती हो सखि अनुसूइये।

अनुसूया—क्यों ? ज़रा सुनाओ तो।

प्रियम्बदा—इसलिए कि जिस तरह इसे अनुरूप वृक्ष मिला उसी तरह मुझे भी अनुरूप वर मिले !

शकुन्तला—यह तुम्हारे अपने मन की बात है, प्रियम्बदे !

अनुसूया—ओहो, इस नोकझोंक में इस माधवी-लता को तुम भूली जा रही हो शकुन्तले !

शकुन्तला...जिसे पिताजी ने मेरे साथ ही सींच-सींचकर बड़ा किया है, उसे, और भूल जाऊँ ? (साश्चर्य) किन्तु सखि, अरे, यह क्या ? असमय में ही नीचे से ऊपर तक क्यों फूलों से लद गई है यह माधवी-लता।

प्रियम्बदा—क्योंकि तुम्हारा ब्याह शीघ्र होनेवाला है। ओहो, मुँह क्यों बना रही है ? तात कण्व ने ही तो एक बार ऐसा कहा था !

दुष्यन्त—क्या यह ऋषि कण्व की किसी दूसरे वर्ण से उत्पन्न हुई कन्या है ? मुझे ऐसा लगता है कि यह क्षत्रियों के ग्रहण करने योग्य है—नहीं तो मेरा मन इसकी ओर क्यों आकृष्ट होता ? जहाँ संशय का विषय हो, वहाँ अन्तःकरण की स्वतः प्रवृत्तियों को ही प्रमाण बनाना चाहिए न।

[अचानक शकुन्तला चिल्ला उठती है]

शकुन्तला—सखियो, इस दुष्ट भौंरे से मुझे बचाओ !

अनुसूया—क्या हुआ, क्या हुआ शकुन्तले !

शकुन्तला—नवमल्लिका के थाले में पानी पड़ते ही यह भौंरा भन्न-भन्न करता उडा और अब मेरे चेहरे पर चक्कर काट रहा है।

दुष्यन्त—अरे, भौंरा से अपने को बचाने में यह कैसी सुन्दर लग रही है। जिस-जिस ओर भौंरा जा रहा है, उस उस ओर अपने

सुन्दर नेत्रों को घुमाती हुई मानो भय के बीच भी यह सुन्दरी अपनी भवों को कमान-लीला सिखा रही है ! और, ओ मधुकर ! कमाल, कमाल ! बार-बार हाथों से हटाये जाने पर भी तू उसके चंचल नेत्रों को चूम ही लेता है, उसके कानों के निकट पहुँचकर अपनी प्रेम-कथा कह ही आता है और, अरे, उसके रति-सर्वस्व अधरों का रसपान करने से भी तू नहीं चूकता ! मैं यहाँ उधेड़बुन में ही रहा और तूने बाज़ी मार ली !

शकुन्तला—बचाओ सखियो, बचाओ !

दुष्यन्त—अहा, अब कहाँ भ्रमर-निवारण ? यहाँ तो अब बिना साज़ के ही नृत्य प्रारम्भ हो गया है जैसे ! हाँ, हाँ, सारी बातें नृत्य की-सी ही तो हो रही हैं ! अपनी भवें आड़ी-तिरछी करती यह अपनी चंचल नजरें इधर-उधर डाल रही है; शरीर का मध्य भाग कुछ टेढ़ा होकर रह-रह कर तरंगायमान बन जाता है, पल्लवों की तरह कोमल-चिकनी हथेलियों और उँगलियों को रह-रहकर झटकार देती है और जब-जब भय से सी-सी कर उठती है तो मालूम होता है आलाप के लिए अभी-अभी उसके अधर खुल रहे हैं ! उफ़……

शकुन्तला—सखियो, सखियो ! यह दुष्ट भौंरा नहीं मान रहा ! मैं जहाँ भागती हूँ, यह पिंड नहीं छोड़ रहा ! बचाओ, बचाओ !

प्रियम्बदा—हम कौन होती हैं तुम्हें बचानेवाली ! राजा दुष्यन्त को क्यों नहीं पुकारती जिनके ऊपर इस सारी तपोभूमि की रक्षा का भार है !

दुष्यन्त—मेरे प्रगट होने का यही सुअवसर है ! (प्रगट होता है) जब तक इस पृथ्वी पर दुष्टों का शासन करने वाले पुरुवंशी राजाओं का राज्य है, तब तक कौन दुष्ट इन भोलीभाली ऋषि-कन्याओं के साथ अविनय का व्यवहार करनेवाला होता है !

अनुसूया—कोई बड़ी बात नहीं हुई है आर्य ! यह मेरी प्रिय सखी एक दुष्ट भौंरे से तंग किये जाने के कारण घबरा गई थी।

दुष्यन्त—(शकुन्तला से) क्यों देवि, आपकी तपस्या में कोई विघ्न तो नहीं हो रहा !

अनुसूया—मेरी सखी कुछ संकोच-शीला है, आर्य ! जब आपके ऐसे अतिथि पहुँच गये, तो फिर विघ्न कहाँ ?

प्रियम्बदा—स्वागत आर्य, स्वागत ! (शकुन्तला से) अरी शकुन्तले, क्या सिर नीचे किये खड़ी है; जा कुटिया से फल-मूल तो ले आ; हाथ-मुँह धोने के लिए यह घड़े का जल तो है ही !

दुष्यन्त—आप लोगों की मीठी बातों से ही मेरा पूरा सत्कार हो गया !

अनुसूया—कम से कम इस सप्तपर्णी वेदिका की शीतल छाया में थोड़ी देर विश्राम तो कर लीजिए !

दुष्यन्त—आप भी तो थकी-सी मालूम होती है—आइए, आप लोग भी थोड़ी देर बैठ लीजिए।

प्रियम्बदा—सखि शकुन्तले ! चलो हम भी बैठें, अतिथि का आग्रह कैसे टाला जायगा !

[सब बैठते हैं]

दुष्यन्त—अहा, कितना रमणीय लगता है आप लोगों का यह समानवय और रूप ! और, फिर आप लोगों की मित्रता भी तो वैसी ही लगती है !

अनुसूया—आर्य, आपके मधुर भाषण से उत्पन्न ढिठाई आपसे कुछ पूछने को विवश कर रही है। क्या आप बता सकेंगे, आप किस राजवंश को अलंकृत करते हैं ? किस देश को विरहोत्कंठित करके यहाँ पधारे हैं ? और किस कारण से अपने सुकुमार शरीर को तपोवन आने के घोर परिश्रम में डाला है ?

दुष्यन्त—यदि आग्रह है, तो सुनिये—मैं एक वेदज्ञ पंडित और राजा के दरबार का धर्माधिकारी हूँ। पवित्र आश्रमों को देखने के प्रसंग में इस तपोवन में आ गया हूँ।

अनुसूया—आपके आने से हम तपस्वी कृतार्थ हुए।

प्रियम्बदा—(धीरे से) सखि शकुन्तले ! यदि आज तात कण्व यहाँ होते !

शकुन्तला—तो क्या होता ?

प्रियम्वदा—तो अपने जीवन का सर्वस्व इस विशेष अतिथि को समर्पण कर कृतार्थ कर देते।

शकुन्तला—(अनखा कर) फिर तू शैतानी कर रही है प्रियम्बदे ! जाओ मैं तुम्हारी बातें नहीं सुनती।

दुष्यन्त—क्या मैं आपकी इस सखी के बारे में कुछ पूछ सकता हूँ ?

अनुसूया—अनुग्रह में भी अभ्यर्थना ?

दुष्यन्त—पूज्य महर्षि कण्व तो आजन्म ब्रह्मचारी है। फिर यह उनकी पुत्री·····

अनुसूया—राजर्षि कौशिक का नाम तो आपने सुना होगा।

दुष्यन्त—भगवान कौशिक को कौन नहीं जानता ?

अनुसूया—मेरी सखी के पिता वही हैं। जब यह त्याग दी गई, तो तात कण्व ने इसे पिता की इरह पाला पोसा।

दुष्यन्त—त्याग दी गई ?

अनुसूया—हाँ, आर्य। बहुत दिन हुए राजर्षि कौशिक उग्र तपस्या कर रहे थे कि देवताओं को भय हुआ और उन्होंनें उनकी तपस्या भंग करने को मेनका नाम की अप्सरा भेजी।

दुष्यन्त—दूसरों की तपस्या देखकर देवताओं को भय होता ही है। फिर क्या हुआ ?

अनसूया—वसंत का आगमन था। सुहावना समय, एकान्त, मेनका का उन्मादक रूप……

दुष्यन्त—अब कहने की आवश्यकता नहीं। तो आपकी सखी अप्सरा से उत्पन्न हुई हैं।

अनुसूया—हाँ, महाराज।

दुष्यन्त—मैं भी यही सोच रहा था. मनुष्य जाति की स्त्री से ऐसे रूप की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। भला कहिये, बिजली की तरल ज्योति क्या पृथ्वी से निकल सकती है? और…

प्रियम्बदा—आर्य, मालूम होता है आप कुछ और कहवाना चाहते थे?

दुष्यन्त—आपका अनुमान बिल्कुल ठीक है।

प्रियम्बदा—तो ज्यादा सोच-विचार करने की क्या जरूरत? तपस्वियों से पूछने के लिए कोई विशेष नियम नहीं होता।

दुष्यन्त—तो सुनिये—आपकी सखी कामदेव की गति रोकनेवाला तपस्वियों का यह वेष विवाह के पहले तक ही रखेंगी या समाननेत्री होने के कारण हरिनों के साथ ही अपना सारा जीवन व्यतीत करेंगी?

प्रियम्बदा—अभी मेरी सखी धर्मानुष्ठान में लगी है। लेकिन, पिताजी का विचार इसे किसी अनुरूप वर को सौप देने का है।

शकुन्तला—बहिन अनुसूया, मैं चली। जाती हूँ और ये सारी उटपटांग बातें माता गौतमी से कहकर रहूँगी।

अनुसूया—अरे, यह क्या? अभी तो इनका अतिथि-सत्कार भी नहीं किया और छोड़ चली। आश्रमवासियों का क्या यही धर्म है?

प्रियम्बदा—ओहो, बड़ी गुस्सेवाली बनी है तुम। लेकिन तुम जा नहीं सकती।

शकुन्तला—(तिनक कर) क्यों?

प्रियम्बदा—क्योंकि अभी दो वृक्ष सींचने को जो रह गये हैं। अपना क़र्ज़ चुका ले तो जाना।

दुष्यन्त—भद्रे, इन वृक्षों के सींचने से ही आप लोग थक गई हैं। देखिये न इन्हें। (शकुन्तला की ओर) बार-बार घड़े उठाने से इनकी दोनों हथेलियाँ लाल-लाल हो गई हैं। दोनों कंधे झुके-से दीखते हैं, ज़ोर-ज़ोर से साँस लेने के कारण उन्नत वक्षस्थल नीचे-ऊपर हो रहा है। मुँह पर पसीने की बूँदें छहर रही हैं जिनसे कानों के शिरीष कुसुम चिपक गये हैं और केवल एक हाथ द्वारा लपेटी गई चिकुर-राशि, बंधन खुल जाने से इधर-उधर बिखरी पड़ी हैं। रह गई क़र्ज़ की बात तो उसके बदले में लीजिए यह अँगूठी।

प्रियम्बदा—(अँगूठी लेकर) यह अँगूठी·····

दुष्यन्त—यह अंगूठी राजा ने मुझे दी थी। इस पर राजा का नाम है।

प्रियंबदा—बता अब कैसे जाती है ?

[दूर से स्वर सुनाई दे रहा है]

तयस्वियो सावधान ! राजा दुष्यन्त इस वन में आखेट करने को आ रहे हैं। उसके घोड़े के टाप से उड़ी हुई लाल धूल गीले वल्कल जिनपर सूखने कों डाले गये थे, उन बृक्षों पर पड़ रही है। एक पागल हाथी भी भड़का हुआ आ रहा है जिसका एक दाँत वृक्षों पर आघात करनें से टूट गया है। जंगली मृग चारो तरफ भाग रहे हैं। सावधान !

अनुसूया—आर्य, अब हमें कुटिया पर जाने की आज्ञा दें। शकुन्तले, माता गौतमी घबरा रही होंगी, अब हमलोग चलें।

शकुन्तला—अरे यह क्या ? मेरे पैर में यह झिन झिनी-सी लग ई है। मुझसे तों चला नहीं जाता, बहन !

दुष्यन्त—आप लोग घबरायें नहीं मैं आश्रम-वासियों को कष्ट नहीं होने दूँगा।

अनुसुया—आह, हम आपकी सेवा भी नहीं कर सके। फ़िर दर्शन दीजिएगा महाभाग! चलो, शकुन्तले।

शकुन्तला—बहन अनुसूया, देखो न इस कुश को भी इसी समय मेरे पैर में गड़ना था और मेरा वल्कल इस झड़बेरी से उलझ रहा है। थोड़ी देर ठहरो मैं अभी आई। (सब जाती हैं)

दुष्यन्त—सब चली गईं, चली गईं। मैं भी चलूँ। इस मुनिबाला ने चलते-चलाते मेरी अजीब हालत कर दी। अब मेरा शरीर तो आगे जा रहा है और मन? जैसे रेशमी झंडा हवा लगने से पीछे की ओर ही उड़ता है, मेरा मन भी शरीर के प्रतिकूल दिशा में ही भागा जा रहा है।

२

दुष्यन्त—विघ्न दूर हो जाने के कारण ऋषियों ने तो हमें जाने की आज्ञा दे दी है, किन्तु क्या शकुन्तला को छोड़ कर जा सकता हूँ? कहाँ हैं मेरी प्यारी शकुन्तला? ओहो, मालूम होता है, वह अभी-अभी इसी रास्ते गई है! क्योंकि जिनसे फूल तोड़े गये हैं उन वृन्तों की अस्तव्यस्तता गई नहीं है और जहाँ पत्ते तोड़े गये हैं वहाँ अब भी दूध निकल रहा है! और, इस मालिनी की पीली रेत पर जो चरण-चिह्न हैं, वे भी इसी की सूचना देते हैं क्योंकि वे आगे की ओर उथले और जघन-भार से पीछे की ओर गहरे पड़े हैं! (आगे बढ़कर) अहा! आँखें तृप्त हो गईं! मेरी प्रिया फूलों से बिछी पत्थर की पटिया पर लेटी है। इस लता-ओट से उनकी बातें सुनूँ तो?

अनुसुया—सखि शकुन्तले, कमल के पत्तों की हवा अच्छी लगती है न?

शकुन्तला—(सखेद)यह क्या झल रही हो, सखियो!

अनुसूया—यह तुम्हें क्या हो गया है, शकुन्तले ?

प्रियंवदा—बहन अनुसूया, उस राजा के दर्शन के बाद ही शकुन्तला की यह हालत हो गई है—कोई दूसरी बात नहीं है।

अनुसूया—क्या यह सच है शकुन्तले ?

शकुन्तला—तुमसे न कहूँगी, तो कहूँगी किससे ? किन्तु सुनकर तुम्हे···

अनुसूया—कहो, कहो ! प्रियजनों में दुख बाँट देने से वेदना सह्य हो जाती है !

शकुन्तला—सचमुच तपोवन की रक्षा करने वाले राजर्षि जबसे इन नेत्रों के सम्मुख हुए हैं···

अनुसूया—यह लजाने की बात नहीं है शकुन्तले ! महानदी समुद्र से ही जाकर मिलती है, और नये पत्तों वाली माधवी-लता आम के वृक्ष का ही सहारा ढूँढ़ती है।

शकुन्तला—तो ऐसा उपाय करो कि मैं उनकी रानि···नहीं तो अब मैं बच नहीं···आह मुझे याद रखना सखियो !

दुष्यन्त—ओहो, कैसी दशा हो गई है इसकी ! मुँह सूख गया है, गाल धँस गये हैं। वक्षस्थल शिथिल पड़ गये हैं, कटि और भी पतली हो गई है, कंधे झुक गये हैं और देह पीली पड़ गई है ! किन्तु इसकी यह करुणमूर्त्ति भी कितनी सुन्दर लग रही है !

प्रियम्बदा—बहिन अनुसूया, तुरंत ही कोई उपाय करना है !

अनुसूया—लेकिन कैसे ? क्या राजा·····

प्रियम्बदा—मैंने राजा की आँखें देखी हैं सखि ! और, तुमने ध्यान नहीं दिया, वह भी दुबले हुए जा रहे हैं !

अनुसूया—तो क्या किया जाय ?

प्रियम्बदा—शकुन्तले, तुम एक प्रेमपत्र उन्हें लिखो ! मैं फूलों में छिपाकर, देवता के प्रसाद के बहाने उनके पास पहुँचा दूँगी !

अनुसूया—हाँ, ठीक, ठीक !

शकुन्तला—किन्तु, कहीं उन्होंने उसका तिरस्कार किया तो ?

प्रियम्बदा—अपने गुणों का आप अपमान करनेवाली लाड़िली ! संसार में ऐसा कौन होगा जो शरद की तापहारिणी स्निग्ध ज्योत्सना को छाता लगाकर अपने ऊपर आने से रोके ?

शकुन्तला—अच्छा, तो मैं तैयार हुई ! लेकिन, सखियो, लिखूँ तो किस चीज़ पर, किस तरह ! लिखने की की सामग्री तो यहाँ नहीं !

प्रियम्बदा—सुग्गे की छाती की तरह कोमल इस कमलिनी के पत्ते पर एक-एक पद-अलग-अलग करके नखों से लिख डालो !

शकुन्तला—लो, लिख डाला सखियो !

अनुसूया—सुनाओ, सुनाओ !

शकुन्तला—ओ निठुर, मैं तुम्हारे हृदय को तो नहीं जानती, किन्तु मैंने अपनी सारी अभिलाषायें तुम्हारे हाथों में सोंप दी है। ऐसी अवस्था में मदन-देवता दिन-रात मुझे तपाता रहता···

दुष्यन्त—प्रगट होने के लिए फिर ऐसा सुअवसर कौन होगा ? (प्रगट होकर) आर्य कृशांगि, तुझे तो वह सिर्फ तपाता भर है, लेकिन मुझे तो जलाये डाल रहा है। सूर्यदेवता जितना मलिन चन्द्रमा को बना देता है, उतनी कमिलिनी को नहीं।

अनुसूया—ओहो, आप आ गये ! जिनके द्वारा कामना पूरी हो सकती है, उन्हें यहाँ आने में कष्ट तो नहीं हुआ ?

शकुन्तला—(उठना चाहती है)

राजा—बस, बस, कष्ट करने की आवश्यकता नहीं। जिनसे करवटें बदलने कारण फूलों की पंखुड़ियाँ दलमल गई हैं और मृणाल के कंकण मर्द्दित हो गये हैं। गुरुतर संताप से पीड़ित आपके ये अंग लोकाचार पालन करने मे समर्थ नहीं रह गये हैं, सुन्दरि !

अनुसूया—इसी पत्थर की पटिया पर आप भी बैठ जाइए महाभाग !

दुष्यन्त—लीजिए, मैं बैठ गया। अब तो आपकी सखी का ताप कुछ कम हुआ ?

प्रियम्बदा—औषधि मिली, तो ज्वर उतरेगा ही !

अनुसूया—राजन्य, यद्यपि आप दोनों का अनुराग प्रगट है, तथापि एक निवेदन···

शकुन्तला—सखि, अंतःपुर के वियोग से उत्कंठित राजर्षि से कुछ निवेदन करना क्या समुचित होगा ?

दुष्यन्त—मेरे इस अनन्य परायण हृदय को, ओ हृदयहारिणी, यदि किसी दूसरी जगह आरोपित करोगी तो समझ लो, ओ खंजन-नयने, कि कामदेव-द्वारा मारा गया मैं दुहरा मारा जाऊँगा।

अनुसूया—बात यों है कि हम सुना करती है, राजाओं को बहुत-सी प्रेमिकायें हुआ करती हैं—

दुष्यन्त—हुआ करें, ऋषिकन्याओं; लेकिन मेरे कुल की मर्यादा के अनुरूप मेरी दो ही प्रेयसी हो सकती हैं—एक तो समुद्रवेष्टित यह पृथ्वी, या आपकी यह प्यारी सखी !

अनुसूया—धन्य महाराज, धन्य है अब हम निश्चित हुईं।

प्रियम्बदा—बहिन अनुसूया, देखो, देखो वह हिरन का बच्चा अपनी माँ से बिछुड़कर बिलला रहा है; चलो, हम उसे माँ से मिला दें।

शकुन्तला—मुझे यहाँ अकेली छोड़कर···

प्रियम्बदा—अरी, तुम्हारे निकट पृथ्वीनाथ बैठे हैं, तो भी तुम अकेली ?

[सखियाँ जाती हैं]

दुष्यन्त—वे चली गईं, तो भी घबड़ाने की क्या बात ? आपकी सेवा के लिए मैं हूँ ही। कहिए तो इस जल-विंदु-शोभित क्लान्तिहारी

शीतल कमल-पत्र से आप पर पंखा झलूँ या नवल कमल पुष्प से लाल-लल इन चरणों को अपनी गोद में···

शकुन्तला—रहने दीजिए, राजर्षि ! मुझे अपराधिनी मत बनाइए ! मुझे भी जाने दीजिए !

दुष्यन्त—(स्वगत) धन्य हैं ये वन-कन्यायें ! इच्छा रखते हुए भी इनका प्रतिकूल व्यवहार होता है, मिलन-सुख की कामना करती हुई भी ये आत्मसमर्पण से घबड़ाती हैं। दुनिया को कामदेव सताता है, ये उसे भी सता मारती हैं !

शकुन्तला—मैं चली महाराज !

दुष्यन्त—क्या सच ! तो जाते-जाते ज़रा···(अंचल पकड़ने की चेष्टा)

शकुन्तला—पुरुवंशी, शिष्टाचार की रक्षा कीजिए। देखते नहीं, चारों ओर ऋषि लोग आ जा रहे हैं !

दुष्यन्त—ऋषिकन्याओं का गान्धर्व विवाह सदा से होता आया है, सुन्दरि ! ऋषि कण्व भी यह सुनकर प्रसन्न ही होंगे !

शकुन्तला···क्षमा कीजिए, मैं चली। आपकी इच्छा पूर्ति न कर सकी···किन्तु सिर्फ सम्भाषण से परिचित इस दासी को न भूलियेगा।

दुष्यन्त—सुन्दरि, जैसे दिन ढलने पर छाया वृक्ष से दूर चली जाती है, किंतु तो भी उसके मूल को नहीं छोड़ती; उसी प्रकार तुम दूर भले ही चली जाओ, किंतु मेरे हृदय को नहीं छोड़ सकोगी !

शकुन्तला—(कुछ आगे बढ़ने के बाद) अरे, यह क्या ? मेरा मृणाल-कंकण कहाँ गिर पड़ा ? (लौटकर) महाराज, क्या आपने मेरा मृणाल-कंकण देखा है ? तो दीजिये और देखिये कहीं ऋषियों की नज़र न हम पर पड़ जाय।

दुष्यन्त—पाया है और दूँगा, लेकिन एक शर्त।

शकुन्तला—कौन-सी शर्त ?

दुष्यन्त—मैं स्वयं पहना दूँ इसे !

शकुन्तला—उफ़, आप तो।·····अच्छा, यही सही ! (हाथ बढ़ाती है)

दुष्यन्त—(हाथ पकड़कर) अहा, कितना सुन्दर स्पर्श है ! शिव ने कामदेव को जला दिया; तो विधाता ने उस पर अमृत छिड़ककर यह नवांकुर उत्पन्न किया है ?

शकुन्तला—आर्यपुत्र, शीघ्रता कीजीए !

दुष्यन्त—आपने क्या कहा, आर्यपुत्र ! तो···

शकुन्तला—तो·····तो क्या आर्यपुत्र !

दुष्यन्त—अपने इन सुन्दर, स्पंदित, अछूते अधरों·····(चूमने की चेष्टा की)

[नेपथ्य से]

एक आवाज़—ओ चकवी, रात हो गई, अब अपने चकवे को विदा करो !

शकुन्तला—आर्यपुत्र विदा, विदा ! आर्या गौतमी शायद मेरा हाल जानने को पधार रही हैं, इसीलिए सखियों ने संकेत किया ! विदा, बिदा, आर्यपुत्र !

३

अनुसूया—आखिर शकुन्तला को अनुकूल वर प्राप्त हुआ; किन्तु भय होता है, प्रियंवदे, कि राजा अपनी राजधानी में जाकर अपनी पटरानियों में कहीं शकुन्तला को भूल न जायँ ।

प्रियंवदा—नहीं, नहीं, उनके ऐसे रूप-गुण वाले पुरुष धोखा नहीं दे सकते, बहन मुझे तो भय है पिता कण्व का !

अनुसूया—वह तो प्रसन्न ही होंगे । लड़की को योग्यवर मिले, पिता को इससे बढ़ कर और किसी दूसरी बात से प्रसन्नता नहीं होती ।

प्रियंवदा—भगवान करें, ऐसा ही हो। तो, बहन, हमलोग अब काफी फूल चुन चुके, अब आश्रम में चलें।

अनुसूया—काफ़ी ? अरी, आज शकुन्तला के सौभाग्य-देवता की भी तो पूजा करनी है! कुछ और चुन—ओहो यह क्या ? कोई अतिथि पुकार रहे हैं !

[नेपथ्य से दुर्बासा का स्वर]

दुर्बासा—ओ, देख; मैं हूँ, मैं !

प्रियंवदा—हाँ, कोई अतिथि ही मालूम होते हैं) तो क्या हुआ, शकुन्तला तो वहाँ है ही।

अनुसूया—है तो, लेकिन उसका शरीर ही है वहाँ—मन तो राजा के साथ गया !

[नेपथ्य से फिर दुर्बासा का स्वर]

दुर्बासा—ओरी; तू अतिथि का निरादर करती है। तो ले—जिसके ध्यान में तूने तपस्वी का निरादर किया है, वह बार-बार याद दिलाने पर भी तुझे उस तरह भूल जायगा जिसतरह पागल अपनी कही गई बात भूल जाता है !

प्रियंवदा—हाय, हाय, वही हुआ, जिसकी आशंका थी। मालूम होता है, शून्यहृदया शकुन्तला किसी पूज्य व्यक्ति से कोई अपराध कर गई !

अनुसूया—और कौन होगा, यह तुनुकमिजाज दुर्वासा ऋषि होंगे वह देखो, इतना बड़ा बज्रपात करके किस तरह जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाते हुए चले जा रहे हैं।

प्रियम्बदा—हाँ, आग के सिवा दूसरा और कौन जला सकता है ? लेकिन, बहिन अनुसूये, तुम जाकर उन्हें शान्त करो, हाय···

[जाती है]

अनुसूया—आपके पैरों पड़ती हूँ भगवान ! उसे क्षमा कर दीजिए

वह एक भोली बालिका है, तपस्वी का प्रभाव बेचारी क्या जाने ? फिर उसका यह पहला अपराध है महर्षि !

दुर्वासा—मेरी बात अन्यथा नहीं हो सकती ! लेकिन तू गिड़गिड़ा रही है, तो जा, जब उसके प्यारे को कोई याद दिलानेवाला अलंकार दिखाया जायगा, तब शाप की निवृत्ति हो जायगी। हटो, मै चला !

[दुर्वासा क्षिप्र वेग से चले जाते हैं]

प्रियम्बदा—अब कुछ धीरज हुआ ! राजा ने चलते समय एक अँगूठी शकुन्तला को दी है, अब यह अँगूठी ही उसकी रक्षिका सिद्ध होगी।

अनुसूया—किन्तु प्रियंवदे, यह बात अभी हमीं लोग के बीच रहे। क्योंकि कोमल-हृदया शकुन्तला इस शाप की कथा सुनेकर क्या जीवित रह सकेगी ?

प्रियंवदा—देखो तो वहाँ, बहन, शकुन्तला किस तरह बायें हाथ पर गाल रखे तस्वीर की तरह बैठी है ! आज ! प्रियतम के ध्यान में वह इतनी निमग्न है कि यह जान भी न सकी कि उसके सर पर कौन-सा बादल अभी-अभी उमड़ कर गाज गिरा गया है !

४

कण्व—आज शकुन्तला जायगी। इस कल्पना ने ही मेरे हृदय को विषाद से भर दिया है। आँसूओं को रोकता हूँ, तो वे गले को गीला कर आवाज़ को रुँधा देते हैं। सामने की चीज़ें भी धुँधली हुई जा रही है। मैं बनवासी हूँ, तो भी स्नेह से इतना विह्वल हो रहा हूँ, तो गृहवासी अपनी कन्या को बिदा करते समय कितना दुखित रोते होंगे !

गौतमी—बेटी शकुन्तला, देख, वह तुम्हरे पिता आ रहे हैं—उनकी आँखों में डबडबाये आँसू तुम्हारे आलिंगन को व्याकुल हैं। उठ, आशीर्वाद ले !

शकुन्तला—(चरणों में लिपटी हुई) पिताजी ! (गला भर आता है)

कण्व—बेटी ! भगवान तुम्हारा कल्याण करें ! जैसे शर्मिष्ठा ने ययाति का प्रेम प्राप्त किया था, उसी तरह तुम भी पति-प्रेम पाप्त करो और पुरु की तरह तुम्हें भी सम्राट् पुत्र प्राप्त हो !

गौतमी—बेटी, महर्षि कण्व ने यह आशीर्वाद नहीं दिया है, बल्कि वरदान दिया है तुम्हें ।

कण्व—बेटी, जिसमें तुरत अहुति पड़ी है, इस यज्ञाग्नि की प्रदक्षिणा कर लो ! यह यज्ञाग्नि तुम्हारा मंगल करे और इसकी हवि की सुगंध की तरह तुम्हरी कीर्ति दिगदिगन्त में फैले ।

[शकुन्तला यज्ञाग्नि भी प्रदक्षिणा कर रहीहै]

कण्व—ओ सारंगख, ओ शारद्वत !

दोनों शिष्य—गुरुदेव !

कण्व—बेटो, अपनी बहन को मंगल-पथ पर ले जाओ !

दोनों शिष्य—बहन शकुन्तले, हम अब चलें ।

कण्व—ओ तपोवन-तरुओं ! जो शकुन्तला तुम्हें सींचे बिना जल भी नहीं पीना चाहती थी; जो अलंकार की अनुरागिनी होने पर भी मारे स्नेह के तुम्हारे पल्लवों को नहीं तोडती थी; तुम्हारे पहले फूल को देखकर जो उत्सव मनाने लगती थी, वह आजी अपने पति के घर जा रही है, तुम लोग उसे आज्ञा दो !

और बेटी—कमल के पत्तों से हरे-भरे सरोवर तुम्हारे मार्ग को सुन्दर बनावें, घनी छायावाले सूर्य के ताप से बचावें, रास्ते की धूल में कमल-पराग की कोमलता हो, और शान्त-स्निग्ध पवन तुम्हारे पीछे-पीछे पंखा झलता हुआ चले ।

[कोयल का स्वर]

सारंगरव—अरे, यह कोयल कूक उठी ! पिताजी, आपकी आज्ञा

मानकर बन-देवता ने इस कूक के बहाने शकुन्तला को विदा का सन्देश दे दिया !

गौतमी—हाँ, हाँ, बेटी ! बनदेवता ने तुम्हें जाने की अनुमति दे दी, उन्हें प्रणाम करो ।

शकुन्तला—सखि प्रियम्बदे, आर्यपुत्र की दर्शन-लालसा मुझे आगे खीच रही है, किन्तु आह, मेरे पैर इस आश्रम को छोड़ने के लिए उठ नही रहे है !

प्रियम्वदा—तुम्हारी ही यह दशा नही है, सखि, सारे आश्रम को देखो—हरिणी चबाती हुई कुश को उगले दे रही है, नाचती हुई मयूरी अचानक रुक गई, और लताएँ पीले पत्ते गिराकर मानो आँसू टपका रही है !

शकुन्तला—पिताजी, ज़रा मुझे इस लता-बहिन माधवी से अनुमति लेने दीजिए !

कण्व—मै जानता हूँ बेटी, तुम्हारा उस पर कितना स्नेह है । देख, वह तुम्हारी दाहिनी तरफ़ है !

शकुन्तला—(लता से लिपटती हुई) बहिन माधवि, अपनी शाखा-बाहुओं से मुझे कस लो, क्योकि आज से फिर भेट नही होगी हमारी-तुम्हारी ! बहिन अनुसूया, सखि प्रियम्बदे, इस माधवी-लता को तुम्हें ही सौंपे जा रही हूँ, सखियो !

अनुसूया—(कातर स्वर में) किन्तु हमें किसे सौपे जा रही हो सखि !

प्रियम्वदा—(रोती हुई) प्यारी सखि ! ओह, हमें किसे सौपे जा रही हो !

कण्व—बेटी अनुसूये, प्रियम्वदे ! तुम लोग यह क्या कर रही हो । रोओ मत बेटियो···शकुन्तला को ढाढ़स बँधाओ !

शकुन्तला—(आँसू पोंछती हुई) गर्भ-भार के कारण आश्रम के आस-पास ही मंदमंद घूमती रहनेवाली यह हिरनी जब सुखपूर्वक बच्चा दे ले, तो उसकी खबर मुझे जरूर दीजिएगा; भूलिएगा नहीं पिताजी !

कण्व—तुम्हारा अंतिम आग्रह और मैं भूलूँ ?

शकुन्तला—और यह कौन मेरे पैरों से लिपटकर मेरा आँचल खींच रहा है !

कण्व—कुश के नुकीले अग्रभाग से जिसका मुँह छिले जाने पर तुमने बार-बार ईंगुदी का तेल लगाकर जिसे अच्छा किया, जो तुम्हारे हाथ के एक मुट्ठी साँवा पर पलकर इतना बड़ा हुआ, जो तुम्हारा पुत्र-सा ही लगता था, वह मृगछौना आज तुम्हारा रास्ता रोके खड़ा है, बेटी !

शकुन्तला—बेटा, जो तुम्हें छोड़कर जा रही है, उसका पीछा तू क्यों कर रहा है ? जब तेरी माँ मर गई थी, मैंने तुझे पाला-पोसा था, अब पिताजी तेरी खोज-खबर लेंगे, इसलिए जा पिताजी के पीछे लग बेटा ! (रोती हुई चलती है)

कण्व—बेटी, रोओ मत । स्थिर हो और रास्ता देखो । तुम्हारी बरौनियाँ ऊपर उठ गई है; इसलिए इन आँसुओं के कारण तुम रास्ता ठीक से देख नहीं पातीं जिससे इस ऊबड़-खाबड़ मे तेरे पैर लड़खड़ा रहे हैं !

सारंगरव—गुरुदेव, प्रियजन को जलाशय तक ही पहुँचाना चाहिए ! देखिये यह सरोवर आ गया ।

अनुसूया—शकुन्तले, तपोवन मे ऐसा कोई सहृदय प्राण नहीं है जो तुम्हारे वियोग से दुखी न हो । कमलपत्र की ओट में पड़ी चकई पुकारे जा रही है, लेकिन तो भी वह चकवा बोल नहीं रहा है—अपने

मुख में मृणाल रखे किस कातर दृष्टि से वह तुम्हारी ओर देख रहा है ?

शकुन्तला—(सिसकती है)

कण्व—बेटी, चुप हो ! चलते समय तुम्हें एक शिक्षा देना अपना कर्त्तव्य समझ रहा हूं—जाओ, सुख से अपने पति के घर पहुँचो। वहाँ गुरुजनों की सेवा में नहीं चूकना; सौतों को भी प्रिय सखि समझना; पति कदाचित् अपमान करे तो भी क्रोध करके उनसे मत झगड़ बैठना; दास-दासियो से उदारता का व्यवहार रखना और अपने सौभाग्य पर कभी नही गर्व करना ! बेटी, यही कुल-कामिनियों का धर्म है !

गौतमी—हाँ, बेटी, इससे बढ़ कर नारी के लिए कोई दूसरा उपदेश हो नहीं सकता।

कण्व—बेटी, आओ, फिर हम मिल लें।

शकुन्तला—पिता जी, मलय-पर्वत से उखाड़ी गई चंदन-लता की तरह आपकी गोद से दूर होकर मैं किस तरह जी सकूंगी ? आह !

कण्व—अधीर मत हो बेटी ! पति का अपार-स्नेह पाकर, भरे-पूरे घर की गृहिणी बनकर और पूर्व दिशा की तरह सूर्य-सा प्रतापी पुत्र पाकर तुम इस विरह-दुख को शीघ्र भूल जाओगी बेटी !

शकुन्तला—पिताजी ! प्रणाम पिताजी !

कण्व—मेरी इच्छा पूरी हो, बेटी !

शकुन्तला—बहन अनुसूये, प्यारी प्रियम्वदे—तुमलोग भी एक बार फिर मिल लो बहन !

[दोनों मिलती हैं]

अनुसूया—राजा को यदि पहचानने में कठिनाई हो, तो वह अँगूठी दिखा देना !

शकुन्तला—तुम्हारी इस बात से तो मेरा हृदय काँप उठा !

प्रियंवदा—डरो नहीं सखी, प्रेम में खटका हुआ ही करता है !

सारंगरव—देवि, अब बेला बहुत चढ़ गई—अब शीघ्रता की जाय !

शकुन्तला —पिताजी, भूलियेगा नहीं !

कण्व—(ठंडी साँस लेकर) पर्णकुटी के द्वार पर जब तक तुम्हारे हाथों से लगाये नीवार में कोपलें आती रहेंगी, तब तक तुम्हें किस तरह भूल सकूँगी बेटी। अच्छा, जाओ—शिवास्ते सन्तु पन्थानः !

५

दुष्यन्त—आह ! जब उस मृग-नयनी ने बार-बार अपने प्रणय की याद दिलाई, तब तो, ओ मेरा हृदय, तू सोया रहा। और अब जब उसे पा नहीं सकता तो संताप भोगने के लिए जागृत हो गया है।

कंचुकी—महाराज की जय हो, जय हो !

दुष्यन्त—जाकर मंत्री से कह दो कि आज मैं धर्मासन पर नहीं बैठ सकूँगा। रात का बड़ी देर तक जगा रहा। जो काम हो उसकी सूचना मेरे पास भेज दें।

विदूषक—अच्छा हुआ कि आपने इन मक्खियों को झाड़-बुहार कर अलग कर दिया। अब इस मनोहर प्रभद बन में थोड़ी देर आनन्द कीजिए।

दुष्यन्त—मित्र, ठीक कहा गया है कि विपत्तियाँ ज़रा-सी सुराख पाकर ही आ धमकती हैं। जिसने शकुन्तला की याद में बाधा पहुँचाई वह मोह मुझे छोड़ भी न सका था कि देखो, यह कामदेव अपने धनुष पर आम्र-मंजरी का बाण चढ़ाकर सामने आ खड़ा हुआ है। अब आनन्द ?

विदूषक—कहिए, मैं अपनी लाठी से कामदेव के इस बाण को अभी तोड़े फोड़े डालता हूँ।

दुष्यन्त—रहने दो अपनी वीरता। आह! यह अँगूठी! तू अबतक कहाँ थी ? अपनी प्रियतमा को मुझसे अकारण छुड़वाकर अब मेरे

हाथ में आई है। उफ़, आज शकुन्तला के उस प्रथम मिलन का सारा वृतांत मुझे याद आ रहा है। मित्र, मित्र मेरी रक्षा करो।

विदूषक—महाराज, आपके लिए ऐसा विचलित होना शोभनीय नहीं। प्रबल झंझा में भी पर्वत नहीं हिलता-डुलता है, महाराज।

दुष्यन्त—ओहो, जब बार-बार याद दिलाये जाने पर भी मैंने उसका परित्याग कर दिया और वह निराश हो, जब मुनि-शिष्य के साथ लौटने लगी तो उन्होंने भी उसे डाँट दिया और कहा तुम्हें यहीं रहना होगा। तब वह खडी हो गई। उस समय आँखों मे आँसू भर कर मुझ निष्ठुर की ओर जिस करुण दृष्टि से उसने देखा था, वह विष से बुझे तीर की तरह आज भी मेरे हृदय को जर्जर कर रही है, मित्र।

विदूषक—महाराज! इस विषय मे मुझे आपसे कुछ पूछना है। हाँ, तो उसे कोई आकाशचारी उड़ाकर ले गया था न?

दुष्यन्त—सखे, और कौन उस पतिव्रता का शरीर स्पर्श कर सकता था। मैंने शकुन्तला की सखियों से सुना था, मेनका उसकी माता है। मुझे ऐसा लगता है कि मेनका की कोई अप्सरा सखी या स्वयं मेनका ही उसे उड़ा ले गयी थी।

विदूषक—यदि ऐसा है तो आप धैर्य्य रखे। समय पाकर वह आपसे ज़रूर मिलेगी?

दुष्यन्त—कैसे?

विदूषक—माँ-बाप अपनी बेटी को पति-वियोग से व्याकुल ज़्यादा दिनों तक नहीं देख सकते।

दुष्यन्त—क्या सच? मुझे तो ऐसा लग रहा है मित्र कि शकुन्तला का वह मिलन या तो सपना था या जादू, या भ्रम या मेरे किसी पूर्वजन्म का पुण्यफल। उफ़, मेरी सारी आशाएँ ऊँचे पहाड़ से गिरकर जैसे चूर चूर हो गई हैं।

विदूषक—ऐसा न कहिए महाराज। यह अँगूठी ही बतलाती है कि उसका मिलन भी अवश्य होगा और इसी तरह एकाएक और अचानक।

दुष्यन्त—मुझे तो इस अँगूठी पर बहुत तरस आता है, तुम्हारी काया के समान तुम्हारा पुण्यफल भी क्षीण है। नहीं तो शकुन्तला के लाल-लाल नखों वाली उँगली मे स्थान पाकर फिर तू क्यों गिर पड़ती ?

विदूषक—अच्छा यह तो बताइये, आपने यह अँगूठी दी थी किस उद्देश्य से ?

दुष्यन्त—बड़ी करुण कहानी है मित्र। जब मैं तपोवन से विदा हो रहा था तब मेरी प्रियतमा ने आँखों में आँसू भरकर रुँधे गले से कहा था—अब कितने दिनों बाद मुझे याद कीजिएगा, आर्यपुत्र। तब यह अँगूठी मैंने उसकी उँगली में डालते हुए कहा था·····

विदूषक—यह तो आपका भी गला भरा आ रहा है। खैर ! आपने क्या कहा ?

दुष्यन्त—मैंने कहा—प्रिये, इस अँगूठी पर अंकित मेरे नाम के एक-एक अक्षर एक-एक दिन में गिनती जाना। गिनती पूरी भी नहीं होगी कि हमारे अंतःपुर से कोई आज्ञाकारी सेवक तुम्हें बुलाने यहाँ आ पहुँचेगा। लेकिन आह ! न जाने किस अभिशाप-वश मैं ये सारी बातें भूल गया ?

विदूषक—किन्तु महाराज, यह तो अँगूठी थी, बंशी नहीं। फिर यह उस रोहू मछली के पेट में कैसे पहुँच गई ?

दुष्यन्त—जब मैंने तिरस्कार की हद कर दी तो तपस्विनी गौतमी ने कहा—बेटी, तू वह अँगूठी क्यों नहीं दिखलाती ? उस समय शकुन्तला ने अपनी उँगली की ओर नज़र की और चिल्ला पड़ी—आह ! क्या हुई मेरी अँगूठी ? वह सोचती थी मैं जलदेव की वंदना करते समय गंगाजी की धारा में तो नहीं गिर गई ? ओरी अँगूठी !

जिसकी उँगलियाँ कोमल और सुन्दर थीं, उन हाथों को छोड़कर तू जल में क्यों डूब गई ? लेकिन तू तो अचेतन थी, मैं चेतन प्राणी होकर—भी अपनी प्रिया का किस तरह त्याग कर सका ?

[दासी का प्रवेश]

दासी—महाराज ! यह महारानी का चित्र पट है, लीजिए।

दुष्यन्त—अहा ! इस चित्र में भी मेरी प्रियतमा कितनी सुन्दर लग रही है ? नेत्र के दोनों प्रांतभाग विस्तृत हैं ही, आँखें भी वैसी ही बड़ी-बड़ी है। ज़रा-सी टेढ़ी होने के कारण भवें और भी सुन्दर लग रही हैं। दाँतों से फूटनेवाली हास्य—किरणों से दोनों होंठ जगमग हो रहे हैं। वे होंठ जो पके बेर के समान लाल-लाल हैं। हास-विलास से पूर्ण मुखारविन्द कितना सुन्दर लगता है, और उस पर पसीने की बूंदें निकलने से ऐसा मालूम पड़ता है, मानों कान्ति चूई पड़ती हो। यद्यपि यह चित्र है, तो भी मालूम होता है, मेरी प्रिया अब बोल उठेगी।

विदूषक—ठीक महाराज, ठीक। अपनी प्रियतमा का चित्रण करने में आपने कमाल किया है। ऐसा मालूम पड़ता है कि इसमें आपने प्राणों का भी संचार कर दिया है।

दुष्यन्त—चित्र-निर्माण करते समय जिस अंग में सुन्दरता नहीं रहती है, उसमें भी लाई जाती है। लेकिन इस चित्र से शकुन्तला का सौंदर्य बढ़ा नहीं, बल्कि कुछ घट ही गया है। अच्छा मित्र, तुम बताओ तो चित्र की इन तीनों मूर्तियों में तुम शकुन्तला किसको समझते हो ?

विदूषक—जिसके केश-कलाप का बंधन शिथिल पड़ गया है, जिससे कुछ फूल गिर पडे हैं; जिसके मुख पर पसीने की बूँदें झलक रही हैं जिसकी बाहु-लता का ऊपरी भाग अवनत दिखाई पड़ रहा है, जिसके वस्त्र का बंधन भी ढीला पड़ गया है और कुछ थकी-सी होने

पर भी जो वृक्षों को जल दे रही है—इस चिकने-से छोटे आमवृक्ष के निकट जिसका चित्र है; निश्चय वही शकुन्तला है, महाराज !

दुष्यन्त—तुम बड़े चतुर हो मित्र। देखो, इस चित्र मे मेरे भी भाव अंकित है। पसीने से तर उँगली रखने के कारण चित्र के प्रान्त भाग में नीली रेखा दीख पड़ रही है और कपोल पर अश्रु-विन्दु गिर गया है, जिससे वहाँ का रंग मैला हो गया है।

विदूषक—महाराज ! क्या इसमें अभी और कुछ चित्रित करना है ?

दुष्यन्त—हाँ, हाँ। जिसके तट पर हंस-दम्पति बैठे हों, ऐसी मालिनी नदी चित्रित करनी है। उसके पास जहाँ चँवरी गाय और हरिन बैठे हों, ऐसे हिमालय का पद-प्रदेश अंकित करना है। फिर जिसकी शाखा पर वल्कल-वसन सूख रहे हो, उस वृक्ष के नीचे एक हरिणी चित्रित करूँगा, जो कृष्ण-सारमृग की सींग से अपनी बायीं आंख खुजला रही हो।

विदूषक—क्षमा करें महाराज, कहीं लम्बी दाढ़ीवाले तपस्वियों के चित्र से न आप इस चित्रपट को पूरा करें ?

दुष्यन्त—सचमुच अभी और बहुत कुछ बनाना रह गया है, सखे !

विदूषक—अरे रे महाराज ! यह क्या ? यह दुष्ट भँवरा ! यह भँवरा इस मुख-कमल के रस-पान के लिए कहाँ से टूट पडा ?

दुष्यन्त—भँवरे ! गुस्ताखी न कर। जिन अधरों का रस-पान करते समय रति-काल में भी मैने दया से काम लिया, अब उसी पर तू डंक मारना चाहता है ? मै तुझे कमल-संपुट के कारागार में बन्द करा दूँगा, सावधान !

विदूषक—महाराज ! इतना क्रोध ? यह चित्र है चित्र।

दुष्यन्त—चित्र ! चित्र !! ओह, तुमने कैसी मूर्खता कर दी

मित्र ? मैं इसे साक्षात् शकुन्तला समझकर तन्मय हृदय से दर्शन-सुख का अनुभव कर रहा था। चित्र की याद दिलाकर मेरी प्रिया को सचमुच तुमने चित्र बना दिया। ओह !

विदूषक—महाराज, यों आँसू !

दुष्यन्त—आँसू ! उफ़ !! रात जागते कटती है, जिससे स्वप्न में भी उसे नहीं देख पाता। और ये आँसू तो चित्रमयी शकुन्तला को भी अच्छी तरह देखने नहीं देते !

[दासी का प्रवेश]

दासी—महाराज ! मंत्रीजी ने कहला भेजा है, एक धनाढ्य सौदागर निर-संतान मर गया है। क्या उसका धन राज्य में लगा लिया जाय ?

दुष्यन्त—आह ! संतान के अभाव मे मेरी इस राज्य संपत्ति की भी तो यही दशा होगी ! (उसाँसे लेते है)

६

एक तपस्विनी—यह चंचलता छोड़ ! तू हर जगह अपना स्वभाव दिखाता रहता है।

दुष्यन्त—इस तपोभूमि में कौन यह अशिष्ट आचरण कर रहा है ? और, यह मेरी दाहिनी भुजा क्यों फड़की ! ओ मेरी भुजा जब तुमने मंगल का तिरस्कार कर दिया, तो फिर व्यर्थ फड़ककर मुझे क्यों कष्ट दे रही हो !

पहली तपस्विनी—अरे तू सुनता नहीं ! छोड दे इसे !

दुष्यन्त—ओहो, यह तो अजीब दृश्य ! बच्चा सिंह-शावक को उसकी माँ के स्तन से छीनकर गोद में लिए खड़ा है, सिंहनी गुर्रा रही है, सिंह-शावक के केसर अस्तव्यस्त हो रहे है। दो तपस्विनियाँ उसे मना कर रही हैं !

बच्चा—ओ शेर-बच्चे, तू मुंह फैला; मैं तेरे दाँत गिनूंगा।

पहली तपस्विनी—दुष्ट, हमारे बच्चों की तरह सभी बच्चों को तू क्यो तंग करता फिरता है ? देख रही हूँ, तुम्हारी शैतानी दिन-दिन बढ़ती जाती है !

दुष्यन्त—अरे, इस बच्चे को देखकर क्यों मेरे हृदय में पुत्र-स्नेह उमड़ा पड़ता है ?

दूसरी तपस्विनी—सर्वदमन, इसे छोड़ दे ! नहीं तो देख वह सिंहनी गुर्रा रही है; अब वह तुझ पर टूटेगी ही ?

बालक—टूटेगी ही ? ओहो, मुझे डर लग रहा है मौसी !

दूसरी तपस्विनी—शोख—उल्टे मुझे चिढ़ा रहा है !

दुष्यन्त—यह चिनगारी एक दिन अग्नि-ज्वाला बनेगी—भविष्य में यह बालक प्रतापी बन कर रहेगा।

पहली तपस्विनी—मैं तुझे खिलौना दूँगी लल्ला, इसे छोड़ दे !

बालक—लाओ, कहाँ है खिलौना ?

दुष्यन्त—खिलौने का नाम सुनकर ही बच्चे ने किस तरह हाथ फैला दिया—नव उषा ने जिसकी पंखुड़ियाँ अभी-अभी खोली है, ऐसी कमलिनी-सी इसकी हथेली ! अरे, हथेली पर चक्रवर्ती की रेखा यहाँ से ही देख पड़ती है !

पहली तपस्विनी—इसे भुलावा में नहीं रखा जा सकता है, सुव्रते ! मेरी कुटिया में मयूर की एक रंगीन मूर्ति है; उसे ले आओ।

बालक—हाँ, मौसी, तब तक मैं इस शेर-बच्चे से खेल रहा हूँ !

दुष्यन्त—इच्छा होती है, इस बच्चे को गोद में उठा लूँ। अहा, अकारण हँसने से जिसके नये-नये दाँत कभी-कभी दिखाई देते हैं, तोतली बोली में जिसके वाक्य बड़े मीठे लगते हैं, गोद में लेने के लिए जो बार-बार आग्रह करता है, ऐसे बच्चों के अंग की धूल से भाग्यवानों के ही शरीर धूसरित होते हैं।

पहली तपस्विनी—क्यों रे, तू मेरी बात नहीं मानेगा ? कोई ऋषिकुमार यहाँ है ? अहा ! आप ? तो आर्य-श्रेष्ठ, आप ही आकर मेरी मदद कीजिए। इस बच्चे के हाथ से इस सिंह-शावक का छुड़ाना मेरे लिए कठिन हो रहा है।

दुष्यन्त—जैसी आज्ञा ! क्यो महर्षिपुत्र·····

पहली तपस्विनी—यह महर्षिपुत्र नहीं है आर्य ! लेकिन आपको देखते ही यह इतना शान्त क्यों हो गया ? और इस बच्चे की आकृति भी आपसे कितनी मिल रही है !

दुष्यन्त—यह मुनि-कुमार नहीं, तो किस कुल के दीपक है !

तपस्विनी—पुरु-वंश का।

दुष्यन्त—पुरु-वंश का ? लेकिन पुरुवंशी तो प्रथम अवस्थाओ में पृथ्वी-पालन के लिए भव्य-दिव्य राजप्रसाद में रहते हैं, वृक्षों की छाया को तो वे चौथेपन में अपनाते हैं।

तपस्विनी—इसकी माँ का सम्बन्ध एक अप्सरा से है, इसीसे उन्होने इसे देवगुरु कश्यप के आश्रम में प्रसव किया है।

दुष्यन्त—इसकी माँ का सम्बन्ध अप्सरा से ? वह श्रीमती किसकी पत्नी है !

तपस्विनी—कौन उसका नाम ले, जिसने अपनी धर्मपत्नी का त्याग कर दिया !

दूसरी तपस्विनी—सर्वदमन, ले यह खिलौना; देख तो इस शकुन्त का लावण्य !

बालक—शकुन्त···ला···कहाँ है मेरी माँ ?

दूसरी तपस्विनी—(हँसती हुई) मै तेरी माँ शकुन्तला के बारे में नहीं कह रही थी। इस शकुन्त मयूर के बारे में·····

दुष्यन्त—आह ! यह क्या सुन रहा हूँ ?

पहली तपस्विनी—सुव्रते, सुव्रते, यह क्या हुआ ? इसके हाथ का रक्षासूत्र कहाँ गिर गया, सखि !

दुष्यन्त—यहाँ पड़ा है, सिंह-शावक से संघर्ष करते समय शायद गिर गया था ! यह लीजिए—

पहली तपस्विनी—मत छूइये, मत छूइये ! अरे, आपने तो उठा ही लिया ! बहिन सुव्रते !

दुष्यन्त—आप लोग चौंक क्यों पड़ीं ? और क्यों मुझे मना किया था ?

पहली तपस्विनी—यह अपराजिता नाम की जड़ी है। इसके जातकर्म के समय भगवान कश्यप ने इसे दिया था और कहा था कि यदि भूमि पर गिर पड़े तो बच्चे के अतिरिक्त सिर्फ माँ-बाप ही उठायें।

दुष्यन्त—यदि दूसरा उठावे तो !

पहली तपस्विनी—तो नागिन बनकर यह डँस लेगी। हमने कई बार ऐसा होते देखा है, आर्य-श्रेष्ठ !

दुष्यन्त—तो मेरा चिरवांछित मनोरथ पूरा हो गया ! आओ बेटा, मैं तुझे गोद में ले लूँ—आह !

बालक—मुझे छोड़ दो, छोड़ दो। मैं माँ के पास जाऊँगा !

दुष्यन्त—मेरी गोद में ही चलकर माँ का अभिनन्दन करो बेटा !

पहली तपस्विनी—सुव्रते ! क्या देख रही हो—जाकर बहिन शकुन्तला को यह सुसम्बाद सुनाओ। यह पौरव-कुल-कमल-दिवाकर दुष्यन्त हमारे सामने है !

दुष्यन्त—वह कौन आ रही है ? क्या शकुन्तला है ? आह, कैसी सूख गई है ! ये धूसरित वस्त्र, यह मुर्झाया चेहरा, यह एकमात्र वेणी—प्रिये ! प्रिये !

शकुन्तला—नाथ, नाथ !

बालक—माँ, यह कौन है ?

शकुन्तला—तुम्हारा भाग्य अब उदय हुआ बेटा, पिताजी को प्रणाम करो !

[कश्यप का प्रवेश]

तुम दोनों का यह पुनर्मिलन सुखमय हो ! इन्द्र तुम्हारी प्रजा पर हमेशा जल बरसाते रहें, तुम सदा यज्ञ करके उन्हें सन्तुष्ट किये रहो और सौ युगों तक मिल-जुलकर संसार का कल्याण करते हुए तुम उत्कर्ष और प्रशंसा प्राप्त करो ! तुम्हारी जय हो, जय हो !

शुभाकांक्षा—

राजा सदा प्रजा की भलाई मे लगे रहें; वाणी की वीणा संसार भर में झंकृत होती रहे और नील-लोहित भगवान शंकर हमें आवागमन से मुक्त कर दें।

मैथिली साहित्य

राष्ट्रभाषा हिन्दी के अंतर्गत जितनी प्रान्तीय भाषाओं का समावेश किया जाता है, उनमें मैथिली सबसे पुरानी, सबसे मधुर और सबसे अधिक लोकप्रिय है। पृथ्वीराज रासो के रचनाकाल के विषय में संदेह होने के बाद हिन्दी के सर्वप्रथम प्रमाणिक महाकवि तो विद्यापति ही रह जाते हैं, जिनकी रचना मैथिली में हुई। हिन्दी गद्य की प्रथम पुस्तक के रूप में हम जिसे पेश कर सकते हैं, वह विद्यापति के पितामह ज्योतिरीश्वर ठाकुर का 'वर्ण रत्नाकर' है, जिसका रचनाकाल तेरहवीं सदी है। हिन्दी का प्रथम नाटक 'पारिजात हरण' मिथिला ने ही हमें दिया है। मैथिली की सरसता तो सर्वस्वीकृत बात है। दिल्ली-मेरठ की रूखी-सूखी धरती और मिथिला की सरस-श्यामला भूमि में जो अंतर है, वही अंतर हिन्दी और मैथिली में है। अपनी सरसता में यह बँगला को भी मात देती रही है। मैथिली पदावली महाप्रभु चैतन्यदेव का कंठहार रही और विश्वकवि रवीन्द्र नाथ ठाकुर (भानु सिंह—पदावली के रूप में) मैथिली में रचना करने का लोभ संवरण नही कर सके। बृन्दाबन से कामाख्या और वाराह क्षेत्र से पुरुषोत्तम क्षेत्र तक मैथिली साहित्य सदियों से आदर पाता रहा है।

उत्तर ओर गर्वोन्नत हिमालय; दक्षिण ओर घहराती गंगा; पूरब और पश्चिम कोशी और गंडक का तरल प्रवाह—इसके अंदर की भूमि ही आज मिथिला के नाम से अभिहित होती है। यही भूमि वैदिककाल की त्रिभुक्ति (तिरहुत) है, पौराणिक काल के जनकों की भूमि यही है और ऐतिहासिक काल के विदेहों और लिच्छवियों के प्रजातंत्र की क्रीड़ाभूमि भी यही रही है। प्रकृति ने हमेशा से इस

भूमि को सुन्दरता और प्रचुरता का वरदान दे रखा है। छः ऋतुओं का स्पष्ट क्रम आपको यहीं दृष्टिगोचर होगा,—फूलों से भरा बसंत, फलों से लदा ग्रीष्म, हिमालय से टकराकर कड़कती हुई बरसात, कुमुदों और काशों से शुभ्र बनी शरद, गुदगुदाता हुआ हेमन्त और कँप-कंपाता हुआ शिशिर आप यहाँ पायेंगे। ग्रीष्म में भी चार गज जमीन आप बिना हरियाली के नहीं पा सकते—वृक्षों, शस्यों, नालों, सरोवरों से पूरित यह पावन धरित्री अपने अधिवासियों के लिए हमेशा सोना उगलती रही है। न अन्न की कमी, न फल की, न दूध-दही की, न माँस-मछली की! (हाँ, मछली मिथिला की खास चीज है! हमारे महामहोपाध्याय भी बिना उसके भोग नहीं लगा सकते!) इस प्रचुरता और सुन्दरता में कविता और संगीत की सृष्टि न हो, तो क्या हो? कविता और संगीत की प्रतिक्रिया के रूप में न्याय और दर्शन का भी यहाँ चरम विकास हुआ है—किन्तु, उसे आप प्रतिक्रिया का ही रूप समझें। मिथिला की आत्मा तो कविता और संगीत में है और मिथिला ने कविता और संगीत को हमेशा एक सिक्के के दो पहलू के रूप में लिया है।

ज्योंही संस्कृत का दबदबा खत्म हुआ और देशी-भाषाओं का विकास शुरू हुआ, मिथिलावासी जी-जान से उसका भंडार भरने में तुल गये। संस्कृत के दुर्गम व्याकरण के नियम और कर्णकटु शब्द उनकी कोमलतम भावनाओं के प्रदर्शन के लिए शायद उपयुक्त नहीं जँचे। विद्यापति अपने जमाने के संस्कृत के महान् पंडितों में थे। उनका परिवार मिथिला के महापंडितों में गिना जाता था। विद्यापति ने संस्कृत में अनेक ग्रंथ लिखे। किन्तु, जब हृदय की कोमल भावनाओं के लिए माध्यम की तलाश शुरू हुई, तो देशीभाषा ही उपयुक्त जँची; वह कहते हैं—

सक्कयवाणी बहुअ न भावई, पाहुँ अरस को मम्म न पावइ ।
देसिल बअना सब जन मिठ्ठा, तँ तैसन जम्पओ अब हट्ठा ।।

संस्कृत भाषा एक तो सबको भाती नहीं, फिर रस मे मर्म की अभिव्यक्ति उसमें शक्य नहीं; इधर देशी भाषा सबको मीठी लगती है, इसलिए मैंने उसे ही अपनाया है । और, वह भाषा धन्य है जिसे विद्यापति ऐसा कोई मर्मी कवि प्रारम्भ मे ही मिल गया ? फलतः हम देखते है चौदहवीं सदी से आज तक छः सौ वर्षों से यह भाषा जीवित है, जाग्रत है । इसे नये-नये कवि मिलते रहे हैं, नये-नये कलाकार मिलते रहे है और इसका भंडार दिन-दिन बढ़ता ही जाता है ।

मेरी यह पुरानी शिकायत रही है कि हिन्दीवालों ने विद्यापति को वह स्थान नहीं दिया जिसके वह उपयुक्त अधिकारी हैं । हिन्दी का नवरत्न कौन कहे, पंचरत्न की भी मैं नहीं कल्पना कर सकता, जिसमें विद्यापति नहीं हों । विद्यापति हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ गीतकार हैं । सूरदास से दो सौ साल पहले आकर उन्होंने हिन्दी को वह दिया, जो कोई दूसरा दे न सका और दे भी सकेगा, यह कौन कहे ?

सखि हे, हमर दुखक नहीं ओर,
इ भर बादर माह भादर सून मंदिर मोर ।

इन पंक्तियों पर कई बार कवीन्द्र रवीन्द्र सिर धुनते रहे ! लेकिन, हमने उसका मर्म नहीं जाना !

सखि हे, कि पूछसि अनुभव मोय,
से हे पिरीत अनुराग बखानइत तिले-तिले नूतन होय ।

और

सकल शरीर कुसुम तुअ, सिरजल किअ तुअ हृदय पषाने !

ऐसी शतशः विदग्ध वाणियों से जिनकी पदावली जगमग है; उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं, रूपकों की जिनकी रचनायें खान है, अपनी

सरस कोमल कान्त पदावली के कारण जो अपने युग में ही अभिनव जयदेव कहलाये, महाप्रभु गौरांग जिनके गीतों को गा-गाकर घंटों भाव विभोर रहा करते थे और सर ग्रियर्सन ने जिनके गीतों को सोलमन के गीत से तुलना की है—उनका सम्यक आदर नहीं करके हमने अपनी लघुता, अनभिज्ञता और अरसिकता का ही परिचय दिया है।

मैथिली की प्रमुख रचनायें गीत के रूप में लिखी गई है। जो परिपाटी विद्यापति ने चलाई, वह आज तक चली जा रही है। मैथिली के प्रमुख गीतकारों में विद्यापति के बाद गोविन्द दास है। जिस तरह विद्यापति को पहले बंगाली लोग बंग निवासी बताते थे, उसी तरह गोविन्ददास को भी। गोविन्ददास के गीतों में शब्द विन्यास, भाव गाम्भीर्य और भाषा का लालित्य दर्शनीय है, हाँ, विद्यापति की तरह उनमें प्रसादगुण नहीं है। "पारिजात-हरण" नाटक के रचयिता उमापति उपाध्याय को भी महाकवि का पद प्राप्त था और उनके गीत भी मिथिला में अध्यावधि प्रचलित है—

हरि सन प्रेम आस हम लाओल, पाओल परिभव ठामे;
जलधर छाँहरि तर हम सुतलहुँ आतप भेल परिणामें।
सखि हे मन जनु करिअ मलाने;
अपन करम फल हम उपभोगवत तोहें किअ तेजह पराने!

कृष्ण से प्रेम की आशा लगाना वैसा ही हुआ जैसा बादल के नीचे सोना—नतीजे में यह धूप धूप! कैसी अनूठी सूझ है। पं० हर्षनाथ झा को मिथिलावासी विद्यापति और उमापति के संप्रदाय का अन्तिम महाकवि मानते हैं। उषाहरण-नाटक और माधवानन्द नाटक में जो आपने मैथिली गीत लिखे है, वे संगीत-काव्य के उत्तमोत्तम उदाहरणों में से हैं। केदार राग में आप गाते हैं—

चललि सयनगृह सुन्दरि सजनी,
नील बसन तनु साजि।
कनकलता जनि बैसल सजनी,
अविरल मधुकर राजि।
खटिक विन्दु अरु सिन्दूर सजनी,
विन्दु विराजित भाल।
जनि पंकजदल रवि शशि सजनी,
उदित भेल एक काल!
ललित दसन रुचि अनुपम सजनी,
अधर नवलदल राज।
जनि बंधूक कुसुमतर सजनी,
विकसित कुंद समाज।

यों ही नायिका का पूरा नखसिख वर्णन अपने इस गीत में हर्षनाथ ने किया है। हर्षनाथ ने ब्रजभाषा में भी कविता की है। महाकवि मनबोध के 'कृष्णजन्म' से मैथिली का प्रबंध काव्य में प्रारंभ होता है, जिसका चरम विकास कवीश्वर चन्दा झा कृत मिथिला—रामायण में हुआ है और जिसका आधुनिक प्रतिनिधि कवि पं० बदरीनाथ झा है। आपका "एकावली परिणय" आधुनिक मैथिली का सर्वश्रेष्ठ काव्य माना जाता है।

बिद्यापति के आश्रयदाता मिथिला के राजा शिवसिंह ने कवियों के प्रश्रय देने की जो प्रथा चलाई, वह मिथिला में सदा क़ायम रही। मिथिलाधीशों ने हमेशा कवियों को प्रोत्साहित किया है। यही नहीं, आधुनिक दरभंगा राज्य के संस्थापक महाराजा महेश ठाकुर ने कुछ रचनायें भी मैथिली में की थीं और महाराजा महिनाथ ठाकुर की एक रचना भी मैथिली को उपलब्ध है।

मिथिला के कर्णाट राजा जब नेपाल के पहाड़ों में भागे, तो उनके साथ मैथिली भी उस पहाड़ी उपत्यका में गई और चौदहवीं, पन्द्रहवीं एवं सोलहवीं सदी में वहाँ बहुत से नाटक मैथिली में लिखे गये जिन्हें बंगाली विद्वानों ने 'नेपाले बँगला नाटक' का नाम दिया। यों ही कुछ मैथिल विद्वान आसाम की ओर गये, वहीं जा बसे और वहाँ नाटकों की रचना की, जिनमें आसामी भाषा की भी पुट है। ऐसे नाटकों का एक संग्रह 'अंकिया नाटक' के नाम से प्रकाशित हुआ है।

किन्तु, मैथिली का साहित्य सिर्फ वह साहित्य नहीं है जो दरबारों में रचा गया और कागज पर लिखा गया। मैथिली साहित्य का मधुरतम अंश तो वह है जो खेतों, खलिहानों, आँगनों और मंडपों में रचा गया और हजारों लाखों कंठों और जिह्वाओं का आश्रय पाकर मिथिला के कोने-कोने को आप्यायित किया करता है। उन अलिखित काव्यों और संगीतों में मिथिलावासियों की शतशः आकांक्षायें और अभिलाषायें, वीरतायें और मनुहारें परिलक्षित हैं। लोरिक, सलहेस, बिहुला, सोंठी के ऐसे अलिखित काव्य हैं जो कई-कई दिनों तक लगातार गाये जाने पर ही समाप्त होते है। फिर हर ऋतु, हर उत्सव, हर पर्व के हजारों गीत है। सोहर है, सौभरि है, नचारी है, झूमर है, फाग है, चैतावर हैं, चौमासे हैं, बारह मासे हैं, श्याम चकेवा हैं, जट जटिन हैं, चाचर है, बिरहा है—कहाँ तक गिनाये जायँ।

विवाह से सम्बन्ध रखने वाले गीतों का जैसा जखीरा मैथिली में है, वैसा तो किसी भी साहित्य में मुश्किल से प्राप्त होगा। मिथिला का विवाह भी साधारण विवाह नहीं है। जहाँ दुल्हे को, कम-से-कम सवा महीना ससुराल में रहना जरूरी है और इस पाँच सप्ताहों में एक दिन भी वैसा नहीं जाता जब विवाह की कोई विधि नहीं होती

हो और हर विधि के लिए जहाँ अलग-अलग गीत है और एक-एक के लिए कई-कई गीत हैं, वहाँ के गीतों के भारी भंडार का अनुमान आप सहज ही लगा सकते है। लड़की की बिदाई की करुण-बेला को भी संगीत में ढाल देने की योग्यता मैथिली के गीतों में ही आप पा सकेंगे !

धिया हे, रहब सबहक प्रिय जाय;
एतए छलहुँ सभ के अति प्रिय भेलि
नेनपन देखि जुड़ाय
ओतए रहब सभ के अनुचरि भेलि
भेंटत ओतए नहिं माय

बेटी, वहाँ सबकी प्यारी बनकर रहना। (मै) यहाँ थी, सब की प्यारी थी, (मेरा) बचपना देखकर सब खुश थे। वहाँ तो सब की दासी बनकर रहना है। वहाँ माँ नहीं मिलेगी।

नेनपन सँ हम कतक सिखाओल,
बहुत बुझाय बुझाय।
जइतहि ओतए रहब तहिना भेल,
जनु दिअ नाम हँसाय॥

बचपन से हमने कितना सिखलाया, बहुत तरह से समझा-बुझा कर। वहाँ जाकर वहीं की होकर रहना—नाम मत हँसाना, (ओ बेटी)

बाजि सकी नहिं, बहुत कहब की,
आब कहल नहीं जाय।
सेवा सभक करब तत्पर भय,
लेब हम तुरत अनाय॥

बोल नहीं सकती, बहुत क्या कहूँ, अब कहा नहीं जाता। सबकी सेवा तत्पर होकर करना, मैं तुरत बुला लूंगी।

छोडथि पैर नहीं, माय कहथि नहि,
गदगद कंठ सुखाय।
भन विन्ध्यनाथ वियोग काल में,
कानब एक उपाय॥

(बेटी) पैर नहीं छोड़ रही; (माँ) बोल नहीं रही। गदगद कंठ सूख रहे हैं। विन्ध्यनाथ कहते हैं, वियोग के समय रोना ही एकमात्र उपाय रह जाता है!

बेटी की बिदाई के वक़्त, आँखों में आँसू और गदगद कंठ से गाये गये ऐसे पदों को सुनकर मालूम पड़ता है जैसे-सारा वायुमंडल आँसुओं से भरा है और पृथ्वी का कण-कण रो रहा है!

अंत में एक बात—

आज फिर सवाल उठ खड़ा हुआ है, हिन्दी क्षेत्र की इन प्रान्तीय भाषाओं के बारे में क्या हो? कुछ लोग हैं जो चाहते हैं कि इन भाषाओं के आधार पर ही फिर से हिन्दी क्षेत्र के प्रान्तों का संगठन हो और इन भाषाओं को ही शिक्षा का माध्यम बनाया जाय। मैथिली की ओर से तो इसका पूरा दावा है। किन्तु, मैं इसका पक्षपाती नहीं। इसके अनुसार बिहार में कम-से-कम तीन प्रान्त होंगे, यू० पी० में आधे दर्जन प्रान्त और सी० पी० भी कई हिस्सों में बँटेगा। इन प्रान्तों में दो पुश्त से शिक्षा का माध्यम हिन्दी रही है और उसने बहुत सी भिन्नताओं को नष्ट कर हमें एकात्मता दी है। हाँ, मैं चाहता हूँ कि हिन्दी के पाठ्य-ग्रंथों में इन प्रान्तीय भाषाओं के भी कुछ अंश दिये जायँ। प्राचीन साहित्य के नाम पर जब हम पाठ्य-ग्रंथों में विद्यापति को स्थान देते हैं; तो मेरी समझ में नहीं आता कि क्यों उसमें

दिनकर, मनोरंजन के साथ ही बद्रीनाथ झा जी या ईशनाथ झा की कविता के नमूने नहीं दिये जायँ ? गोविन्ददास, उमापति, हर्षनाथ, मनबोध और चंदा झा की रचनाओं को बिहार के पाठ्य-ग्रंथों में स्थान नहीं दिया जाना तो मुझे अनर्थ जँचता है। राष्ट्रभाषा के रूप मे हिन्दी जीये; तो लोक भाषा के रूप में मैथिली को भी जीवित रहने का हक़ है।

निबंधमाला

हिंदी में निबंध साहित्य का प्रणयन उस मनोयोग से नहीं हो रहा जिस प्रकार कविता, उपन्यास या कहानी साहित्य का। हिंदी के श्रेष्ठ निबंध लेखक अभी उँगलियों पर गिनाये जा सकते हैं। हमारी भाषा में, जो स्वतन्त्र देश की राष्ट्र-भाषा होने जा रही है, यह एक बहुत बड़ा अभाव है। हिंदी के उत्कृष्ट साहित्यकारों के सहयोग से 'किताब महल' उसकी पूर्ति करने जा रहा है।

जिस समय बच्चा कुछ बड़ा होता है उसी समय स्कूल में उससे विविध विषयों पर विवरणात्मक, वर्णनात्मक, आत्म-कथात्मक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक एवं विवेचनात्मक निबंध लिखवाये जाते हैं। कॉलेज में उससे और अधिक गंभीर साहित्यिक निबंधों की अपेक्षा की जाती है। साहित्य का अध्ययन करते समय तो साहित्य के विद्यार्थियों और जिज्ञासुओं को अनेक प्रकार के आलोचनात्मक निबंधों की आवश्यकता होती है। इस कमी को सामयिक पत्र-पत्रिकाएँ कुछ पूरा करती तो हैं, परन्तु वास्तविक अभाव की पूर्ति तो अधिकारी विद्वानों के ग्रंथों द्वारा ही हो सकती है।

विद्यार्थियोपयोगी निबंध संग्रहों से लेकर मौलिक गंभीर साहित्यिक निबंध-संग्रह इस निबंधमाला में हम प्रकाशित कर रहे हैं। इस प्रकार हमने अपना क्षेत्र और दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक रखा है। विश्वास है हिंदी साहित्य की सेवा में हमारे इस योगदान का अपना स्थान रहेगा।

अब तक के प्रकाशन

विचारधारा	डा० अमरनाथ झा	३।।।)
प्रगति और परंपरा	डा० रामविलास शर्मा	२।।)
संस्कृति और साहित्य	,,	२॥)
साहित्य निबंधावलि	राहुल सांकृत्यायन	३।।।)
दिमागी गुलामी	,,	।।।)
निबंध-प्रबोध	डा० रामरतन भटनागर	२।)
प्रबंध-पूर्णिमा	,,	३)
हवा पर	रामवृक्ष बेनीपुरी	१।।)
हमारे कवि १	विश्वम्भर 'मानव'	१)

किताब महल—प्रकाशक—इलाहाबाद